साहित्यिक पुस्तक-माला

सम्पादक

जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार

हिमालय प्रेस, पटना

विषय - सूची

'हिमालय' के लिए संदेश

"हीमालय" को संदेश हीमालय ही दे रहा है।
यह कहता है—दीमाग में बरफ रक्खो
और स्थीर बुद्धी से नीरंतर सेवा
करते रहो। शांती और
स्थीरता यही असका
संदेश है।

१८/४/४८ वीनोबा

विक्रम (पटना) में होनेवाले अ० भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन के अवसर पर श्रीविनोबा भावे से हमारा विशेष प्रतिनिधि मिला था। उन्होंने 'हिमालय' को देख कर प्रसन्नता प्रकट की और 'हिमालय' के लिए अपना यह संदेश दिया, जो उन्हीं के शब्दों में ज्यों का त्यों ऊपर प्रकाशित किया जाता है। —सम्पादक

हे राम ! हे राम !

लो अपना यह न्यास देवता ! बाँह गहो गुणधाम !
भक्त और क्या करे सिवा लेने के पावन नाम ?

स्वागत नियति-नियत क्षण मेरे ! बजा विजय की भेरी,
मुक्तिदूत ! जानें कब से थी मुझे प्रतीक्षा तेरी।

और कौन तुम तृषित ! अरे, चुल्लू-भर शोणित को ही
तुम आये ले शस्त्र, व्यर्थ बन कर समाज का द्रोही।

मेरा शोणित शमित सके कर अगर किसी का ताप,
घर बैठे पहुँचा आऊँ मैं उसे न क्यों चुपचाप ?

क्षमा करो देवाधिदेव ! अपराधी किसका कौन ?
इच्छा राम ! प्रधान तुम्हारी, दोष हमारा गौण।

विदा युद्धजर्जर वसुधे ! किस तरह करूँ परितोष ?
इच्छा है आऊँ ले अक्षय शीतलता का कोष।

मिले जगत को शान्ति, मिला जैसे मुझको उपराम,
क्षमा करो देवाधिदेव ! आया, आया हे राम !

पटना
२१ अप्रैल, १९४८

—रामधारी सिंह 'दिनकर'
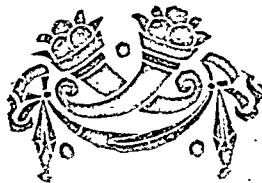
बापू के प्रति

श्री 'बच्चन'

एक हज़ार बरस की जिसने
कर दी दूर गुलामी,
उस नेताओं के नेता को
एक हज़ार सलामी!

किया योग्य उसने अयोग्य को
यौगिक शक्ति जगा के

आपस में कटते-मरते थे
भूले देश-भलाई,
सिखलाया उसने, हैं हिंदू-
मुस्लिम भाई-भाई,

मंत्र मुहब्बत का दोनों के
कानों में बिठला के।

हिंदू करते थे सदियों से
जिनकी क्रूर अवज्ञा,
इन्हीं अछूतों को दी उसने
'हरिजन' की शुभ संज्ञा,

किये अपावन उसने पावन
दृग-जल से नहला के।

झुका धरा का सारा वैभव
उसके तप के आगे,
दान किया जिसने अपने को,
वह जग से क्या माँगे,

धन्य हुआ वह मानव के हित
मन-तन-प्राण लगा के।

उसने अपने जीवन में वह
विशद साधना साधी,
जगती के भाग्योदय का है
नाम दूसरा गांधी,
विश्व शान्ति पायेगा केवल
उसका पथ अपना के।

भारतीय जीवन का सबसे
उज्ज्वल रूप दिखा के,
भारतीय संस्कृति का सबसे
व्यापक अर्थ बता के,
साथ हुआ गांधी गायत्री,
गीता, गौ, गंगा के!

गांधी : महात्मा और क्रान्तिकारी

श्री वाई० जी० कृष्णमूर्ति

महात्मा गांधी केवल सन्त ही नहीं थे, बल्कि वे एक महान् क्रान्तिकारी भी थे। यदि उन्हें उग्र क्रान्तिकारी कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। वे उन सन्तों में नहीं थे, जो जनता को विचारों के भ्रमजाल में फंसाकर रखना चाहता हो। वे इसके अपवाद थे। वे उन क्रान्तिकारियों में भी नहीं थे, जिनकी प्रवृत्ति केवल संहार की ओर होती है, बल्कि वे उस कोटि के क्रान्तिकारी थे, जिसकी प्रवृत्तियां रचनात्मक होती हैं। सन्त और क्रान्तिकारी दोनों की दो भिन्न प्रवृत्ति और प्रकृति होती है। लेकिन दोनों प्रवृत्तियों का विचित्र संयोग महात्माजी के जीवन में था और इसने उनके व्यक्तित्व को जटिल बना दिया था।

सेवा में आनन्द सन्तों और महात्माओं का प्राचीन आदर्श है। महात्माजी उस आदर्श के मूर्तरूप थे। उनकी महान् भावुकता कभी क्षुब्ध नहीं होती थी। सत्य के प्रति उनकी एकांत निष्ठा में भंडता के लिए स्थान नहीं था। उनके नेत्रों में आह्लाद की जो चमक रहती थी, वह अपने आप प्रकट करती थी कि ईश्वर की उनपर विशेष कृपा है। इस दृष्टि से यदि हम उन्हें परमात्मा का प्रकृष्ट जीव या अंश कहें, तो अनुचित नहीं होगा—खासकर जब वे प्रकाश की खोज में लीन हो जाते थे।

सन्त के जीवन में ही क्षणिक आवेश अन्तर्ध्वनि का रूप धारण कर लेते हैं। इस तरह उनका सारा जीवन सत्य और प्रेम की खोज और उसके प्रयोग में बीतता है। गांधीजी का वर्तमान अन्धकारमय युग का पूर्ण ज्ञान था। उसके विध्वंसात्मक संघर्ष में नये निर्माण का वे सुन्दर स्वरूप देखते हैं। मानवता के अन्तिम निर्वाण में वे जघन्य विधानों की अंत्येष्टि पाते हैं।

गांधीजी इतिहास की प्रचलित प्रथा की विपरीत धारा से ही अपने परिणाम पर पहुँचने के आदी थे या यों कहिये कि वे इतिहास की घटनाओं को उलटकर पढ़ने और परिणाम निकालने के आदी थे। वे हमेशा जीवन की वास्तविकता की तह में पहुँच जाना चाहते थे। उन्हें सजीव अतीत पर पूरी आस्था थी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि अतीत को आत्मसात् किये बिना जीवन का वास्तविक विकास असंभव है। उसके बिना सच्चा रस और आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। उन्होंने यह भलीभांति समझ लिया था कि अतीत की ओर से आँखें मूंद लेने का अर्थ होगा अपनी सारी वास्तविकता और जागरूकता पर

गानी फेर देना। इसका परिणाम यह होता था कि महात्माजी अपनी सत्यता के अनुसार भावना की जो रूपरेखा तैयार कर लेते थे, वह ठीक ठीक उसी रूप में उतरती थी। इसलिए इतिहास की घटनाओं में महात्माजी उस बुलबुले के समान नहीं थे, जो प्रकट होता है और नष्ट हो जाता है; बल्कि इतिहास के निर्माण में उनका प्रभाव स्थायी होता था।

गांधीजी के जीवन का एकमात्र लक्ष्य सत्य की खोज या अनुसन्धान था। उनका सारा प्रयोग इसी एक उद्देश्य से होता था। सत्य और वास्तविकता की खोज में ही वे सदा रत रहे। भारत आध्यात्मिकता का देश है। इसलिए उन्हें अपने इस लक्ष्य की ओर बढ़ने में साधकों और अनुयायियों की कमी नहीं रही। गांधीजी पूर्ण धार्मिक थे, नास्तिकता का उनमें सर्वथा अभाव था। सत्य का उन्होंने पूर्णरूप से आश्रय लिया था। इसका फल था कि राजनीति के चल चित्र में उनकी अन्तर्दृष्टि बहुत दूर तक चली जाती थी, जिसकी कोई मिसाल नहीं पेश की जा सकती। भौतिकवाद की उपासना के इस युग में भी वह हम लोगों को यही शिक्षा देते रहे कि हमें परस्पर प्रेम, सद्भाव, नम्रता तथा त्याग का जीवन बिताना चाहिए।

गांधीजी की प्रवृत्ति उपासना, त्याग और प्रेम की ओर ही था। उनकी विचारधारा न संकुचित थी, न अस्थिर ; बल्कि पूर्ण और स्थिर। एक ही झोले में रखे हुए विभिन्न रत्न जिस तरह अपना प्रकाश अलग-अलग देते रहते हैं, उन्हें समझने और परखने में जिस तरह किसी तरह की दिक्कत नहीं होती, उनका स्वतंत्र अस्तित्व कभी लुप्त नहीं होता, ठीक वही हालत महात्माजी के विचारों की थी। वे सदा सुलझे हुए हमारे सामने आये, उनमें कभी उलझन नहीं पायी गयी। जीवन की वास्तविकता से उनका सदा घना सम्बन्ध बना रहा। उससे काटकर अलग किये हुए वे नहीं प्रतीत हुए। गांधीजी के उपदेशों को अपने जीवन में उतारकर अनेक भारतीयों ने अपने राजनीतिक जीवन के स्तर को बहुत ऊँचा उठाया है।

बिना शब्दाडम्बर या वाग्जाल के उन्होंने अपने आध्यात्मिक विचारों को कांग्रेस के आदर्शों के साथ सुन्दर संयोग कर दिया था। वास्तविकता तो यह है कि अध्यात्मवादी संकीर्ण संघर्ष से कहीं ऊपर होता है। अहिंसात्मक क्रान्ति की शिक्षा तथा उसके राजनीतिक परिणाम ने हमें बतला दिया है कि सन्त और महात्मा गांधी सर्वश्रेष्ठ क्रान्तिकारी हो सकते हैं।

वस्तुस्थिति को तोड़-मड़ोर कर उपस्थित करना कुशल राजनीतिज्ञ की कला है। लेकिन वह अपने आग्नेय अस्त्र का निर्माण- जीवन और समाज की

वास्तविक घटनाओं के आधार पर नहीं करता। इसलिए उसकी राजनीति में स्पष्टता नहीं होती और उसका अर्धसत्य अधिकतर धोखे की चीज होती हैं। जितना उससे भ्रम उत्पन्न होने की आशंका रहती है उतना सफेद झूठ से नहीं। गांधीजी ने अपने जीवन में यह स्पष्ट व्यक्त कर दिया था कि राजनीति का असली रूप लोगों को ठगना या धोखा देना नहीं है बल्कि मनुष्य की वास्तविकता को समझ लेना हैं।

गांधीजी भारत की जनता को सदा यही शिक्षा देते रहे कि रक्षा और सुख का चिराग किसी समय गुल हो सकता है, लेकिन सत्य का चिराग सदा जलता रहेगा। उनकी अन्तर्दृष्टि कभी अस्पष्ट नहीं रहती थी, बल्कि उनमें स्थिर सत्य की धारा का अनवरत प्रवाह था। इन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण जनसाधारण पर उनका असाधारण प्रभाव था। दंभ, पाखण्ड और अनाचार के इस युग में भी वे पूर्ण आत्मविश्वास के साथ साफ शब्दों में कहते थे कि स्वाधीनता सत्य पर अवलंबित है या स्वाधीनता में सत्य का समावेश है।

जिस युग में किसी की संपत्ति का अपहरण कर लेना या किसी निर्दोष की हत्या कर डालना भी पाप नहीं समझा जाता, जिस युग में क्षुद्रता और पागलपन तथा जंगलीपन का बोलबाला हो, उस युग में सत्य का ढोल पीटना किसीके लिए भी आकर्षक नहीं हो सकता था। लेकिन भारत की जनता ने मनसा, वाचा और कर्मणा गांधीजी के सत्य को अपनाया। वह अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों से विचलित नहीं हुई। अपनी परम्परा के विरुद्ध जाना उसे अभीष्ट नहीं था। उसने इस बात को समझा कि अपनी सांस्कृतिक परम्परा के विरुद्ध विदेशी आदर्श का अपनाना आत्मप्रवंचना होगी। वह अपने आदर्शों पर इसलिये अटल रही कि वह गाँधीजी का सच्चा अनुयायी बनना चाहती थी। राष्ट्र के चरित्र का निर्माण सत्य के आधार पर हुआ हैं और वह सत्य की ही ओर अग्रसर हो रहा है।

गाँधीजी के रूप में भारतीय जनता को वह ज्योति मिला, जिसके प्रकाश के सहारे वह निरन्तर आगे बढ़ती रहेगी। जिस समय सारे संसार में उथल-पुथल मची हुई है, भारत की जनता को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि महात्माजी के सत्य के मार्ग का अवलम्बन कर और दृढ़ता से उसे अपनाकर वह इस तमिस्र से अवश्य ही विजयी होकर निकलेगी।

जिस युग में राजनीतिज्ञों का सारा समुदाय परस्पर कलह में फँसा हुआ है और परस्पर दोषारोपण ही राजनीति का प्रधान व्यवसाय या अंग बन गया है, उस समय भी राष्ट्र की दो तिहाई जनता गांधी के सिद्धान्तों का समर्थन कर रही है और एक तिहाई अन्धकार में अपना रास्ता टटोल रही है, उसका कोई स्थिर

गांधाजी की राजनीति का मौलिक सिद्धान्त यह है कि भारत की परम्परा धार्मिक और आशावादी है और धार्मिक आधार पर ही समीचीन राष्ट्रीयता का विकास हो सकता है। हमारी ऐतिहासिक परम्परा में अध्यात्म और शान्ति, राष्ट्रीयता और मानवता दो पृथक वस्तुयें नहीं मानी गयीं। आकांक्षा और क्रिया दोनों में उनका संयुक्त रूप ही सामने आया है।

यही कारण है कि महात्माजी देश की आजादी को सदाचार से अलग नहीं करना चाहते थे। इस दृष्टि से आजादी की आकांक्षा पूर्ण अनुशासन के साथ गुंथी हुई प्रतीत होगी।

गांधीजी सौन्दर्य के अनन्य उपासक थे ; क्योंकि उन्होंने समाज के समक्ष ऐस उत्कृष्ट आदर्श रख दिये थे, जो मनुष्य को वहुत ऊँचा उठानवाले थे। प्रेम और सत्य के उत्कृष्ट प्रकटीकरण को ही वे कला का पूर्ण प्रदर्शन मानते थे। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वह हलचल पैदा कर दी कि वह जीवन की वास्तविकता और रचना के सौन्दर्य को समझने की कोशिश करे। उनकी कला बनावटी नहीं थी, वलिक उसका नग्न रूप उन्होंने सामने रख दिया था। आत्मा की पुकार या प्ररणा उनकी कला का वास्तविक रूप थी, जिसे वे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते थे। दार्शनिकता के आडम्बर में उसे वांधना उन्हें अभीष्ट नहीं था।

इतिहास की सारगर्भित परम्परा में गांधीजी कन्फ्यूसियस, वुद्ध या ईसा मसीह के समकक्ष थे। लेकिन जहाँ तक राजनातिक क्षेत्र में सदाचार के समन्वय का सम्वन्ध है, महात्माजी निस्सन्देह वहुत ऊँचे थे। उनकी सादगी में प्रकृति का सौन्दर्य नृत्य करता रहता था। वे संसार की क्षणभंगुर वस्तुओं से नाता तोड़कर नहीं रहना चाहते थे। उनके साथ उनका सम्वन्ध अन्त तक जुड़ा रहा। लेकिन उनमें वह अद्भुत शक्ति थी कि अपने संपर्क में आनेवाली वुरी से वुरी चीज को भी वे खरा सोना वना देते थे।

पश्चिमी देशों के लोग भले ही इस वात से सन्तोष प्रकट करें कि वहाँ रक्तपात और नर-संहार वन्द हो गया है। यह सही है कि निकट भविष्य में रक्तपात की संभावना नहीं है। लेकिन इस रक्तपात ने उनकी दूषित और कलुषित मनोवृत्ति को निर्मल या पवित्र नहीं वनाया है। आधा गोलार्द्ध नर-कंकालों से ढँका पड़ा है। युद्ध के कराल गाल से जो जीवित वच गये हैं, उनके सामने शून्य और घोर अन्धकार है।

परमाणु वम ने संसार से आत्म-विश्वास उठा दिया है। संसार का कलेजा दहल उठा है। परमाणु वम के रहस्य को लेकर जो राजनीतिक चालवाजियाँ और पैंतरेवाजियाँ हुई हैं, उनने शान्ति की संभावना को और भा खतरे में डाल

दिया है। जागृत चेतना और अटल विश्वास के अभाव में मानव जाति का भविष्य दिनों-दिन विगड़ता ही जायगा।

वह विश्वास जो किसी विजित जाति के हृदय में वहशत या आशंकाजनित विद्वेष न पैदा करे, वह विश्वास जो जीवन के उद्देश्य का मार्ग प्रशस्त करे, वह विश्वास जो किसी राष्ट्र को कोई विशेष अधिकार देने का वादा न करे और जो मानव समाज पर आनेवाली विपत्ति के प्रति विद्रोही वन जाय, उस तरह का विश्वास केवल गाँधीवादी आदर्शों में है। यही विश्वास, यही आदर्श मानव जाति के परस्पर के सात्विक सम्बन्ध में फैलनेवाले जहर के लिए गोथे या ईसा मसीह का रूप धारण कर सकता है।

सत्य और प्रेम को जीवन की वास्तविकता स्वीकार कर गाँधाजा ने आधुनिक विचारधारा में क्रान्ति उपस्थित कर दी। इस तरह उन्होंने विश्व की राजनीति में एक अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित कर दिया, जो यदि उस प्रवृत्ति को रोकने में नहीं तो उसके प्रभाव को कम करने में अवश्य समर्थ होगा, जो प्रवृत्ति प्रेम और मानवता की शान्ति में विश्वास न कर एकछत्र अधिकार का उपासक है।

हृदय की पुकार, अन्तरात्मा की प्रेरणा या दिव्य प्रकाश आदि शब्दावली के वारे में भले ही किसीका विरोध हो—शब्द के प्रयोग के हम कायल नहीं, लेकिन अन्तर्दृष्टि के विना राजनीति शून्य और नगण्य है। वही रहस्यवादी या अध्यात्मवादी, जिसे ईश्वरीय प्रेरणा में विश्वास है और जिसे उसकी शान्ति और सहारे पर भरोसा है, क्षतविक्षत और धूलिधूसरित मानवता को शान्ति प्रदान कर सकता है। यदि विश्व का नये सिरे से निर्माण करना है, तो ढाँचा वनानेवाले को अध्यात्म के आधार पर ही उसकी नींव डालनी होगी। यूरोप के पुनरुद्धार के लिए वहुत गहरी तैयारा की जरूरत है, जो अत्यधिक साहसिकता की माँग रखता है। अल्डस हक्सले के इस कथन में सत्य का समावेश है कि "अध्यात्मविहीन विश्व अन्धकारमय और पागलों का संसार होगा।

जिस यूरोप का स्वप्न हिटलर ने देखा था, वह मर चुका है। लेकिन उसकी छाया अभीतक कायम है और उसका प्रभाव वर्तमान विश्व में नष्ट नहीं हो सका है। राजनीतिज्ञों की काली करतूतें और भ्रमजाल सदाचारिक भ्रष्टता का विस्तार कर रही हैं। भौतिकवादी राष्ट्र पग-पग पर इस वात का प्रमाण दे रहे हैं कि परमाणु वम के सहारे ही सारा विश्व चल रहा है। इससे यूरोप की विभीषिका दिनोंदिन वढ़ती चली जा रही है। लेकिन आध्यात्मवादी ऋषि-महर्षियों की भाँति महात्माजा राजनीति को सदाचार और अध्यात्म का अंग वनाने की सतत चेष्टा

इसी प्रयोग में लगे रहे। देखें, उनके अनुयायी इस प्रयोग को कहाँ तक सफल बनाते हैं। विश्व का उद्धार इसी मार्ग से हो सकता है। यदि विश्व ने इस मार्ग को नहीं अपनाया, तो इसका सर्वनाश निश्चित है। वह सदा अँधेरे में ही टटोलता रहेगा।

गाँधीजी अपने इस विश्वास पर अटल रहे कि सत्य और प्रेम अजेय है। संसार की कोई भी क्रान्ति उन्हें इस विश्वास से डिगा नहीं सकी। विश्व के सामने यह अनोखा उदाहरण है, जो कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता ; क्योंकि अन्यत्र तो इसके विपरीत ही उदाहरण मिलते हैं, जहाँ सत्य पर प्रहार किया जाता है और छल तथा प्रवंचना का बोलबाला है। सदाचार के ये आधार सभ्यता और संस्कृति के मुख्य आधार हैं, लेकिन वर्तमान युग के सभ्य कहलानेवाले देशों में इसका सर्वथा अभाव पाया जाता है।

क्या इस तरह की राजनीति के निर्माता को जन्म देने का यूरोप के किसी राष्ट्र ने कभी प्रयास किया? क्या उन्मत्त और उद्भ्रान्त यूरोप ने कभी इस तरह के अध्यात्मवादी राजनीतिज्ञ के सामने कभी भी कृतज्ञता से अपना सिर झुकाया? गाँधीजी की आध्यात्मिकता और सत्य के प्रयोग ने उन्हें वह शान्ति प्रदान की थी, जिसके सहारे वह वर्तमान सभ्य संसार को नया प्रकाश देने में समर्थ हो सके थे।

यह कहना अंशतः सत्य होगा कि वर्तमान सभ्य कहलानेवाले लोगों में मानवीय गुणों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। लेकिन आज भी विश्व में एक वस्तु विद्यमान है, जिसका सहरा लेकर वर्तमान छिन्न-भिन्न जीवन के तन्तुओं को जोड़कर एक किया जा सकता है। वह है सत्य की कल्पना और उसपर कायम रहने का साहस! पीड़ित मानवता को उन्नति के शिखर पर चढ़ाने की क्षमता ईसा के समान किसी त्यागी और सहनशील मानव में ही हो सकती है, न कि उस धूर्त में, जो अवस्था भेद के अनुसार अपना रंग बदलता रहता है, ठीक उस नट की तरह, जो दर्शकों की मनोवृत्ति को समझकर ही अपना अभिनय करता है।

राजनीति-क्षेत्र के चतुर कारकुन या निर्माता यह बात भूल जाते हैं कि नये समाज को नया रूप देना आत्मविश्वास से ही संभव है। किसी सुदृढ़ समाज का संगठन उतना कठिन नहीं है, जितना सच्चा मानव समाज तैयार करना है। मनुष्य को गरोह में इकट्ठा करके एक जमात आसानी से बनायी जा सकती है। लेकिन न तो उसमें जान होगी और न विविधता। लेकिन क्या इस तरह का संगठन मनुष्य को दैनिक भय और विषाद से ऊपर उठा सकता है? यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि युद्ध की हलचल और तूफान में मनुष्य के वे सभी गुण

छिन्न-भिन्न हो गये जिनके बल पर वह महानता के ऊँचे आसन पर बैठता था अथवा जिनसे उसकी महानता थी, लेकिन अध्यात्म को विकसित करने की ताकत उसमें ज्यों की त्यों वर्तमान है।

मानव की कोमल भावनाओं पर जहरीले और घातक अस्त्रों के प्रहार से जो गहरे घाव हो गये हैं, उनपर राजनीतिक निर्माता की दृष्टि जानी चाहिए। एक समूचे शहर को सम्पूर्ण रूप से बम से उड़ा देने से बढ़कर भी कोई जघन्य और क्रूर कर्म किसी मनुष्य के हाथों हो सकता है? जो प्रणाली जीवन के रस को चूस लेती है, उसकी जिन्दगी अमर करने के लिए मनुष्य इतना रक्तपात और बलिदान क्यों करे!

इस समय मनुष्य के सदाचारिक गठन की कड़ी परीक्षा है। उसके सामने दो ही उपाय हैं—या तो वह बुराई से समझौता कर ले, जो अपना फौलादी पंजा दिन पर दिन फैलाता और दृढ़तर करता जा रहा है अथवा वह सत्य और प्रेम सदृश वास्तविकता की खोज में चल पड़े। उसे यह धारणा भी अपने दिमाग से हटा देनी पड़ेगी कि मनीषी हिंसा द्वारा भी विजय प्राप्त कर सकते हैं।

जन-साधारण आजतक राजनीतिज्ञों के हाथ का खिलौना बना हुआ है। वह उसके इशारे पर नाच रहा है। लेकिन यदि वह थोड़ा भी प्रयास करे और उनके इशारे पर नाचना छोड़ दे, तो वह उन्हें अनेक सीख दे सकता है और तब वह यह भी देखेगा कि स्थायी शान्ति की सारी बातें विडम्बनामात्र हैं। विशेषण और विशेष्य में विचित्र विरोधाभास है।

इसलिये जनसाधारण का यह कर्तव्य है कि वह उस तरह की राजनीति के प्रयोग में बाधक सिद्ध हो जिस का आधार दूषित, कुत्सित और नीच है। जो लोग दूसरे को गुलाम बनाना चाहते हैं, अपने राज की सीमा बढ़ाना चाहते हैं अथवा राष्ट्रीय स्वार्थपरता को प्रश्रय देते हैं, ऐसे लोगों की वह निन्दा करे। उसे तो एक विश्व के महानतम सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहिये और उसे ही जीवन का उत्कर्ष समझकर चलना चाहिये। इसके लिए यदि उसे जेलों में सड़ना पड़े, या फाँसी के तख्ते पर झूलना पड़े या गोली का शिकार होना पड़े, तो भी उसे मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। किसी हेय या गर्हित सिद्धान्त को स्वीकार कर उसे प्रोत्साहन देने की अपेक्षा उपर्युक्त यातनाओं को सहना कहीं श्रेयस्कर है। कम से कम जीवन में उसे यहाँ एक अवसर मिल जाता है, जब वह अपने आध्यात्मिक विश्वास का सच्चा परिचय दे सकता है।

वर्तमान अन्धकारमय युग में सच्चे प्रकाश की ज्योति फैलाने के लिए ऐसे युवकों की जरूरत है, जिनमें आशा और विश्वास हो, जिनका हृदय विशाल हो, जो दृढ़व्रती और सच्चे साहसी हों, जो न्याय के आधार पर प्रतिष्ठित आदर्श के

लिए मर मिटने को तैयार हों और जो मानवता के सच्चे पुजारी हों। आज मानवता रूपी पौधे की जड़ सूख रही है। इसका कारण यह है कि आज हमने अध्यात्म और राजनीतिक प्रभुता को दो अलग-अलग दिशाओं में रख दिया है। दोनों को एक दूसरे से अलग कर दिया है।

लेकिन महात्माजी के आजीवन प्रयास का फल यह हुआ है कि राजनीति पर सदाचार, सत्य और प्रेम अपना प्रभाव फैला रहे हैं। भारतीय जनता के हृदय में उन्होंने सदाचार की भावनायें भर दी हैं और आज वह अपनी आजादी को इससे अलग नहीं देखना चाहती। वह अपनी आजादी में सदाचार और भ्रातृभाव दोनों को समाविष्ट करना चाहती है। जनता तथा अभीप्सित आदर्शों के बीच कुहासे का जो अन्धकार फैल गया था, उसे सदाचार ने नष्टकर दूर कर दिया। गांधीजी के सत्य और प्रेम के मार्ग पर चलकर आज भारत की जनता अपने भाग्य का नव निर्माण करने जा रही है।

आज जब विश्व के कोने-कोने में घृणा, द्वेष और ईर्ष्या का राज्य फैला हुआ है, गांधीजी के पथ पर चल कर भारतीय जनता ने विश्वप्रेम का अनोखा आदर्श विश्व के समक्ष रखा है। क्या जातीयता के संकीर्ण दायरे से परिवेष्टित और आध्यात्मिकता से शून्य पश्चिम की जातियाँ इस अमर सन्देश को ग्रहण करने का प्रयास करेंगी? यदि यह संभव हो सका, तो गाँधीजी का सारा प्रयास और उनका वलिदान सार्थक हो जायगा। गांधीजी यावज्जीवन आशावादी थे। निराशा को उन्होंने अपने पास फटकने तक नहीं दिया। आशावादिता में ही उन्होंने अन्तिम सांस ली। क्या पश्चिम की जातियाँ गाँधीजी के ध्रुव सत्य आदर्श को अपना कर उनके सिद्धान्तों पर अमरता की मुहर लगा देंगी और सत्य तथा प्रेम के दिव्य प्रकाश से अपने जीवन को आलोकित करेंगी?

गांधीजी क्रान्तिकारी थे। लेकिन उनकी क्रान्ति का स्वरूप क्या था? वे मनुष्य के स्वप्न को विश्व का आदर्श वना देना चाहते थे। उनकी भावना थी कि प्रत्येक व्यक्ति में सदाचार की मात्रा विद्यमान रहती है, जो उसे गिरने से वचाती रहती है। यही सहारा है, जिसे पकड़कर वह परम पिता तक पहुँच सकता है। मनुष्य के उद्धार का अर्थ है कि सदाचार स्वतन्त्ररूप से—वन्धनमुक्त होकर नहीं—अपना काम उसके अन्दर करता जा रहा है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता या मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि वास्तविक जगत् से उसे छुटकारा मिल गया, वल्कि उसका अभिप्राय यह होता है कि उसे जगत् का वास्तविक रूप देखने की क्षमता प्राप्त हो गयी। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि उसने भ्रम, माया और धोखाघड़ी पर विजय प्राप्त कर ली। उनके फन्दे में वह नहीं फँस सकता।

डर, भय, संकीर्णता, कपट, लोभ तथा मिथ्याचार जिन्दगी के सबसे बड़े दुश्मन हैं। वे उसकी अवधि को कम कर देते हैं। लेकिन गांधीजी का मार्ग उच्च क्रान्तिकारी आधार पर स्थित है। जीवन की महानता को वे बिना हिचक स्वीकार करते हैं। साधारण क्रान्तिकारी जीवन को एक अधूरी चीज समझता है, जो समय पाकर ऐतिहासिक घटनाओं के साथ चलते रहकर पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। लेकिन गांधी के अध्यात्मवाद का दृष्टिकोण उससे सर्वथा भिन्न है। वह मनुष्य को सदाचारी जीव समझता है, जो समय पर विजय पाने का क्षमता रखता है और इतिहास से प्रभावित होनेवाला नहीं है।

यदि हम इस दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं, तो हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि "नाजीवाद या फासिस्टवाद से छुटकारा मिल गया" का नारा गलत नारा है। यदि इसकी छानबीन की जाय, तो प्रकट होगा कि भय की ओर से वह अयोग्यता की ओर बढ़ रहा है। सच्चा उद्धार या वास्तविक मुक्ति इससे एकदम भिन्न वस्तु है, जिसके लिए रास्ता भी बिलकुल भिन्न है। इसका आधार सत्य और अहिंसा है। अपने जोश को भ्रान्त दिशा में जाने देने से पूर्व, अपने आदर्शों के पथभ्रष्ट होने से पहले, अपने जीवन को दुःखमय होने से पहले ही पाश्चात्य जातियों को महात्माजी के बताये मार्ग को अपना लेना चाहिए, क्योंकि गांधी सच्चा दूरदर्शी और भावना से युक्त क्रान्तिकारी था।

०

"मैं अपने यौवनकाल में जब राजनीति के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता था, उस समय से ही साम्प्रदायिक एकता का स्वप्न देखता आ रहा हूँ। इस जीवन में ही मेरा वह स्वप्न सार्थक हो गया, यह यदि मैं देख सकूँ तो अपने जीवन की संध्या में भी मैं बच्चे की तरह नाचने लगूँगा। अतीत के ऋषिमुनियों के वर्णनानुसार जीवन की पूर्ण सीमा अर्थात् १२५ साल तक जीवित रहने की मेरी आकांक्षा तभी जाग्रत हो उठेगी। इस प्रकार के स्वप्न को सार्थक करने के लिए कौन ऐसा होगा, जो अपना जीवन उत्सर्ग करने का खतरा अपने ऊपर नहीं लेगा? ऐसा करके ही हम प्रकृत स्वराज लाभ कर सकते हैं। —म० गाँधी

गांधी-स्मृति

श्रीआरसीप्रसाद सिंह

गये, तुम्हारे साथ सत्य का पुञ्जीभूत प्रकाश गया !
रवि का तेज, सौम्यता शशि की, सागर का उल्लास गया !
गये, विश्व-बालक के मुख का हास, अपूर्ण विकास गया !
गये, तुम्हारे साथ राष्ट्र का नव-निर्मित इतिहास गया !
कोटि-कोटि नर-नारी के कंठों का जाग्रत गान गया !
पौरुष गया, हिमालय-सा उन्नत अशेष अभिमान गया !
क्या न गया ? क्या रहा ? पितः, तुमने जिस दिन प्रस्थान किया।
क्रूर विधाता ने सारे भारत को एक-श्मशान किया !
चले वन्दिनी जन्मभूमि की जंजीरों को तोड़ चले !
लक्ष-लक्ष जन-गण को बापू, शोक-सिन्धु में छोड़ चले !
वज्रपात नीरभ्र हुआ, तुम रूठ स्वर्ग की ओर चले !
यह कैसा आश्चर्य कि हत्यारे को भी कर जोड़ चले !
उस दिन दो-दो सूर्य गगन से एक साथ ही अस्त हुए !
तिमिर-पर्व में डूब गया जग, लोक-लोक संत्रस्त हुए !
द्रवीभूत छन्दों की धारा, करुण रागिनी फूट चली !
दिल्ली का सुहाग असमय में नियति-दानवी लूट चली !
गंगा-यमुना के नयनों से अश्रु-प्रवाह उमड़ आया !
दारुण शोकोच्छ्वास सिन्धु के आर-पार जा टकराया !
इन्द्रासन हिल गया, देव सुरपुर से दौड़े अकुलाये !
यह कैसी थी मृत्यु, मरण के भी कठोर दृग भर आये !
था भीषण सम्वाद वज्र-सा, किन्तु नहीं विश्वास हुआ ;
लगा कि जैसे हिली धरा, दो टूक कहीं आकाश हुआ !
प्रलय ! असम्भव ! अरे हृदय के ज्वालामुखी, प्रशान्त रहो !
हे ईश्वर ! यह दारुण घटना किसी भाँति भी सत्य न हो !
किन्तु नहीं, परमेश्वर की भी कुछ ऐसी ही इच्छा थी !
और देश के लिए एक अनहोनी अग्नि-परीक्षा थी !
चिर-दिन से विपरीत भावना देख देवता ऊबा था !

वह समाधि-तल्लीन तपस्वी शान्ति-सिन्धु में डूबा था !
प्रभु ने सुनी पुकार भक्त की, परमधाम में बुला लिया !
और गोद के शिशु को मानो, मा-धरती ने सुला दिया !
खेल रहा था जो बालक-सा ईश्वर की कर-छाया में,
निर्भय डोल रहा था जो उन्मत्त आसुरी माया में,
कौन जानता था भारत के मस्तक की कलंक-टीका ?
एक सन्त होगा शिकार यों हत्यारे की गोली का ?
हिन्दू मुस्लिम-ऐक्य-वेदिका पर जीवन बलिदान किया !
यज्ञ-कुण्ड में कूद स्वयं, फिर औरों को आह्वान किया !
जिसके लिए यती-योगी-जन तप करते हैं आजीवन,
अन्तिम बार किया तुम ने 'हे राम' शब्द का उच्चारण !
किसे न ईर्ष्या होगी ऐसे पुण्य-मरण पर चिर-दुर्लभ !
अमर शान्ति यह देख ज्ञानियों का मुख-मण्डल भी हत-प्रभ !
गीता के साकार रूप, हे महाभागवत, निष्कामी !
यही तुम्हारे योग्य मृत्यु थी, ओ असिधारा-पथगामी !
शूली दी जिसने ईसा को, मीरा को विष का प्याला;
जिसने था प्रह्लाद भक्त को अग्नि-शिखाओं में डाला;
वेधा था भगवान कृष्ण के कमल-चरण को जिस शर ने,
देव, वही आया न तुम्हारा भी क्या आलिंगन करने ?
राम गये, सुकरात गये जिस पथ से गये, बुद्ध गौतम;
कभी किसी बिरले को यों सौभाग्य मिला करता निर्मम !
अपने प्रबल विरोधी को भी क्या प्रणाम कर लिया नहीं ?
हत्याकारी को भी तुमने सदय, क्षमा कर दिया नहीं ?
बापू, मैं इससे क्या समझूँ ? तुम्हें देवता या मानव ?
सच पूछो तो, हम पापी ने तुमको पहचाना ही कब ?
लेकिन, क्या तुम हमें छोड़कर सचमुच बापू, चले गये ?
हम संसारी-जीव सदृश ही महा-मृत्यु से छले गये ?
नहीं, कदापि नहीं, तुम मर कर और निकट खिँच आये हो !
रन्ध्र-रन्ध्र से प्राणों के तुम तो जा रहे समाये हो !
तब तो एक रूप था, कोई एक देश था, थी सीमा;
अब तो निराकार प्रतिमा वह बनी विराट, विपुल, भीमा !
अमर-बल्लरी-सा दिगन्त-तरुवर पर चढ़ता जाता है !

अमृत-मूल पाताल भेदकर प्रतिक्षण बढ़ता जाता है!
क्या न तुम्हीं ने स्वयं कहा था—'यह शरीर तो है नश्वर!
इसमें जो करता निवास, वह परम पुरुष ही नित्य, अमर!
पंचभूत से निर्मित तन फिर भूतों में मिल जाता है;
उसके लिए करे जो चिन्ता, वही मूढ़ कहलाता है!
वह न कहीं आता-जाता है, आत्मा तो अविनाशी है;
और न वह मरता-जीता है, नित चैतन्य-विलासी है!
फिर हम किसका शोच करें? क्या वह जो भस्मीभूत हुआ?
अथवा वह जो दिग्दिगन्त में मलय-पवन-सा पूत हुआ?

× × ×

यह सच है कि मिलेगी फिर वह मन्द-मधुर मुस्कान नहीं;
संकट की घड़ियों में साहस देनेवाला ज्ञान नहीं!
कठिन समस्याओं की समुपस्थिति में अतुलित धैर्य नहीं!
जादू भरे नयन की भाषा मौन मिलेगी फिर न कहीं!
हम रोवेंगे युग-युग तक, लेकिन फिर भी क्या पावेंगे?
कभी हमारे बापूजी क्या लौट स्वर्ग से आवेंगे?
फिर भी जो प्रकाश की धारा अपने पीछे छोड़ी है,
लगी व्योम से भूतल तक जो प्रेम-किरण की डोरी है,
युग-युगान्त तक भूले-भटके जग को राह बतावेगी;
दुःख-जलधि में मग्न प्राणियों को वह पार लगावेगी!

तुम आये, जब देश घोर निद्रा में बेसुध सोया था;
भारत-गगन भयानक तम के महाजाल में खोया था!
कौन कहाँ है? क्या करता है? इसकी भी पहचान नहीं;
हम गुलाम हैं! पराधीन हैं! इसका भी कुछ ज्ञान नहीं!
दस्यु विदेशी लूट रहे थे भारत की धरती का धन!
चारों ओर दमन-शोषण था, कहीं न कोई था जीवन!
तुमने मुट्ठी-भर प्राणों से ब्रिटिश सिंह को ललकारा!
तुमने पुनः प्रवाहित कर दी नवजीवन-विद्युत्-धारा!
जिधर चले तुम, एक उधर ही जागृति की आँधी आई!
पड़े तुम्हारे चरण जहाँ, ली वहीं काल ने अँगड़ाई!

ईसाई दुनिया बोली--'तू सबसे बड़ा ईसाई था!
मुसलमान ने कहा—"हमारा तू ही सच्चा भाई था!
बौद्ध जगत ने कहा—"तथागत का था तू ही तो अवतार!
'सबसे बड़ा हितैषी मेरा!' बोला मुक्तकण्ठ संसार!
तुम हिन्दू थे, नहीं तुम्हारा इससे गौरव अधिक हुआ!
क्या विस्मय, जो हिन्दू का ही तरुण तुम्हारा बधिक हुआ?
धर्म-मूल में राजनीति की तुमने प्राण-प्रतिष्ठा की!
तुमने दी संगति अपूर्व संन्यास-योग की निष्ठा की!

सत्य-अहिंसा के शस्त्रों से वह अद्भुत संग्राम मचा!
त्याग और तप के बल पर वह कुरुक्षेत्र था गया रचा!
निर्भयता का पाठ पढ़ाया, रामनाम का मंत्र दिया!
बलिवेदी की ओर बढ़ाकर सारा देश स्वतंत्र किया!
पुरुषोत्तम-पद पाकर भी तुम रहे मनुज ही साधारण!
राज्य दिया पाण्डव को तुमने जीत महाभारत का रण!
तुम तो आये गरल-पात्र में शान्ति-सुधा पावन भरने!
प्रेम-सूत्र में बाँध विश्व को, नर से नारायण करने!

गये, कल्पतरु की छाया में तुमने चिर-विश्राम लिया!
नई पौध के लिये भूमि को शेष रक्त भी दान दिया!
विदा हुए तुम उधर, देश पर दुख की घटा घिरी काली!
शोक, क्षोभ, लज्जा से आयी झुक बनकी डाली-डाली!
उधर तुम्हारे लिये स्वर्ग का द्वार खुला, जयकार हुआ!
और इधर सारी दुनिया में दारुण हाहाकार हुआ!
रोये, फूट-फूटकर रोये भाग्यहीन भारतवासी!
हाय; तुम्हारे ही शोणित की धरती थी अबतक प्यासी?
पृथ्वी के कोने-कोने में एक उदासी-सी छाई!
विश्वभारती की वीणा के तारों पर मूर्च्छा आई!
हे सम्राट्-भिखारी, लोटे मुकुट तुम्हारे चरणों पर!
दिग्दिगन्त से गूँजे अन्तिम श्रद्धाञ्जलि के विगलित स्वर!
शव-यात्रा ऐसी कि इन्द्र का बल-विक्रम भी शरमाता!
स्वयं विधाता भी शायद मरने को प्रस्तुत हो जाता!

आकाँक्षा यह व्यर्थ कि कुछ दिन और कदाचित् रह जाते;
वचनामृत कर पान तुम्हारा हम जीवन-सम्बल पाते!
विधि-विधान ही था ऐसा, पूर्णायु नहीं तुम भोग सके;
मरण-धर्म के वीर, नहीं तुम लड़ते लड़ते कभी थके!
जग ने समझा मूल्य नहीं जो, दिल-दिमाग में जड़ता थी!
अनुभव करता आज, तुम्हारी कितनी आवश्यकता थी!

विदा हुए तुम, चन्द दिनों तक रहा विश्व में कोलाहल!
व्यथा-वेदना के सागर में मची रही भारी हलचल!
धीरे-धीरे याद तुम्हारी मन से उतरी जाती है;
शोक-घटा को चीर हिन्द की ध्वजा पुनः फहराती है!
फिर हिंसा के तुमुल नाद से व्योम लगा करने घन-घन!
राष्ट्र-राष्ट्र में वैर-भाव, मानव-मानव में संघर्षण!
उमड़ रही हिटलर की ताकत, फिर मुसोलिनी उमड़ रहा!
पुनः सत्य औ न्याय-धर्म का पैर जमीं से उखड़ रहा!
अणुबम की भूगोल-भक्षिणी फिर दहाड़ सुन पड़ती है!
प्रलय-किरण विकराल नाचती, मृत्यु शंख-ध्वनि करती है!
लगे आततायी फिर करने रंगमंच पर गुरु गर्जन!
फिर से नई चुनौती, आया फिर से रण का आमंत्रण!
फिर विनाश का डंका बजने लगा, अग्नि-शर पैठा है!
दुर्बल मानव के कंधों पर फिर दानव चढ़ बैठा है!
पितः, हमें बल दो कि तुम्हारे व्रत को सदा निभायेंगे!
सन्मति दो, हम सम्मुख रण में हँस कर बलि हो जायेंगे!
पी जायेंगे हम आँसू को, दिल को पत्थर कर लेंगे!
पर, न तुम्हारा, मृत्यु-जन्य प्रतिशोध उभड़ने हम देंगे!
हमें प्रतिज्ञा करने दो, हम कभी न होंगे विचलित-पथ!
बापू, दो वह ज्योति, तुम्हारे चरणों की है हमें शपथ!

गांधीजी और आधुनिकता

आचार्य जे० बी० कृपलानी

महात्मा गांधी के भाव और विचार सर्वथा नवीन और क्रान्तिकारी हुआ करते थे। किन्तु उन्होंने कभी इस बात का दावा नहीं किया कि उनके विचार और भाव मौलिक हैं। वह बार-बार यह कहा करते थे कि मैं जो कुछ लोगों को सीख दे रहा हूँ उसमें सब धर्मों के प्राचीन महापुरुषों के बताये हुए मार्ग का अनुसरण करने और प्राचीन नियमों और आदर्शों का पालन करने की चेष्टा के सिवा और कुछ नहीं है। उनका यह भी कहना था कि वह संसार को कोई नयी बात नहीं दे रहे हैं। और ऐसा वह केवल आत्मसंकोचवश कहा करते थे सो बात नहीं है। किसी प्रकार की मौलिकता का दावा न करके गांधीजी अपनी जाति की स्वभाविक प्रतिभा के साथ सामञ्जस्य रखते हुए कार्य कर रहे थे; क्योंकि भारतवर्ष में जितने महापुरुष हुए हैं, उनमें कभी किसीने यह दावा नहीं किया कि उन्होंने किसी नये सत्य का सन्धान किया है। उनके जितने विचार थे, उन सबका सन्धान हम प्राचीन काल से चले आते हुए मान्य विचारों में पाते हैं। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जिन लोगों ने नये विचारों का प्रचार किया था, उनके नाम तक अज्ञात हैं। जितने मत-मतान्तर हैं, वे अति पुरातन काल से चले आते हुए माने जाते हैं। भारतीय प्रतिभा की यही विशेषता रही है कि वह निर्वैयक्तिक रूप में यहाँ तक कि बिना नाम के ही काम करती रही है। प्रतिभा का दान चाहे कितना ही मौलिक क्यों न हो, किन्तु वह व्यक्तिगत न होकर बराबर जातिगत ही समझा जाता था। ललित-कला के क्षेत्र में भी कलाकार के सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता था कि वह चिरागत एवं मान्य शिल्प-विज्ञान एवं परम्परा की सीमाओं के अन्दर ही काम कर रहा है और आश्चर्य की बात तो यह है कि इन सीमाओं के अन्दर रहकर ही वह नूतन रूप में सौन्दर्य सृष्टि करता था; किन्तु प्राचीन के साथ यह सादृश्य जितना बाह्य रूप में दृष्टिगत होता था, उतना वह वस्तुतः होता नहीं था। आज भी हम किसी विचार की प्रगति का मूल सूत्र युग-युग से चली आती हुई परम्परा के बीच ढूंढ़ सकते हैं। नये विचार, मतवाद और आदर्श व्याख्या और भाष्य के रूप में अज्ञात भाव से चले आये। बड़े-से-बड़े मौलिक और क्रान्तिकारी विचारक भी अपने को केवल भाष्यकार ही समझा करते थे जिनका काम केवल इतना ही होता था कि प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते

हुए उसकी अक्षुणता को कायम रखें। प्रत्येक विचार और प्रत्येक विधान सनातन और चिरन्तन समझा जाता है।

भारतीय प्रतिभा मुख्यतः रचनात्मक रही है। यह किसी भी वस्तु को अस्वीकार नहीं करती। विना किसी वस्तु को नष्ट किये ही यह सृजन करती है। विनाश का कार्यकाल के विध्वंसी हाथों में छोड़ दिया जाता है। जिसका काम होता है जीर्ण, निरर्थक एवं हानिकारक वस्तुओं को अपसारित कर देना। यों तो बाहर से देखने में ऐसा लगता है कि भारत शताब्दियों से एक समान रहा है; किन्तु इस वाह्य समानता के पीछे वड़े-बड़े परिवर्त्तन हुए हैं, भले ही वे अलक्ष्य रूप में हुए हों। इस ढंग से परिवर्त्तन होने में समय अवश्य लगता है, किन्तु इससे प्रत्येक संस्था या विधान को अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का सुयोग मिलता है। बहुधा ऐसा होता है कि इस प्रकार के परिवर्त्तन में केवल वे ही अंश अपसारित होते हैं, जो निरर्थक, जीर्ण या हानिकारक वन गये हुए होते हैं। जो कुछ अच्छा होता है, वह रह जाता है, इस प्रकार के क्रमविकास की प्रक्रिया में योग्यतम का कायम रह जाना सुनिश्चित रहता है; किन्तु जिस तरह सभी अच्छी चीजों के साथ कुछ न कुछ वुराई भी लगी ही रहती है, उसी तरह इसके साथ भी कुछ असुविधायें हैं। कभी-कभी इससे प्राचीन काल से चली आनेवाली वुराइयों का बहुत समय तक कायम रह जाना सुनिश्चित हो जाता है।

उदाहरण के लिए भारत में पशुवलि प्रथा का संपूर्ण निषेध कभी नहीं किया गया। किन्तु प्रगति के साथ-साथ इस पशुवलि का जो अर्थग्रहण कर लिया गया है, वह अधिक सदय और मनोवैज्ञानिक जान पड़ता है। इस समय पशुवलि न करके लोग उसके स्थान पर कुम्हड़ा को काटने की प्रथा ही विशेष रूप में प्रचलित है। सच तो यह है कि ज्ञान-यज्ञ ही सबसे बड़ा यज्ञ या त्याग समझा जाता था। एक वैदिक छन्द में कहा गया है—सर्वप्रथम यज्ञ का देवता मनुष्य में था। जब मनुष्य का वलिदान हुआ तब उसने अश्व के शरीर में प्रवेश किया। फिर अश्व का वलिदान होने पर गाय में और गाय के वलिदान होने पर भेंड़ में और भेड़ से वकरे में प्रवेश किया। और जब वकरे की भी वलि दी जाने लगी तब यज्ञ का वह देवता पृथिवी में प्रवेश कर गया और वहाँ चावल और जौ के रूप में देखा गया, जिनसे यज्ञ के पिण्ड वनते हैं।"

इसी प्रकार प्रकृति और मूत्तिपूजा के सम्वन्ध में भी उच्चभाव उनके वाह्य स्वरूपों पर आरोपित कर दिये गये। जो भौतिक और पार्थिव थे, उनका संस्कार करके उन्हें एक सूक्ष्म मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप दे दिया गया। मूत्तिपूजा का प्रत्याख्यान नहीं किया गया, वल्कि मानसिक एकाग्रता और आध्यात्मिक शिक्षण

के लिए वह एक आवश्यक प्रतीक बन गयी। जिन अनेक देवी-देवताओं की उपासना की जाती थी, वे सब एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न रूप बन गये। प्रकृति के अद्भुत दृश्य समूह देवता बन गये और ये देवता ही बाद में चलकर प्रकृति की शक्तियाँ और उस एक सनातन एवं अनादि परब्रह्म के विभिन्न स्वरूप और शक्तियाँ अथवा उसकी विभूतियाँ बन गयीं।

प्राचीन आचार्यों की इसी भावना के आधार पर गांधीजी कार्य कर रहे थे। अस्पृश्यता-निवारण हिन्दू-समाज के लिए एक बहुत बड़ी क्रान्ति है। किन्तु गांधीजी इसका पक्ष-समर्थन प्राचीन धर्म की विशुद्धता के नाम पर ही किया करते थे। प्राचीनता के प्रमाण पर ही वह अस्पृश्यता-निवारण का साहसपूर्वक दावा करते थे और उनका ऐसा करना ठीक भी था। वेद और उपनिषदों में अस्पृश्यता का कहीं उल्लेख नहीं है। उन दिनों यह प्रथा नहीं थी। यहाँ तक कि बाद में चलकर वर्णाश्रम धर्म की जो प्रथा विकसित हुई, उसमें भी किसी अस्पृश्य पंचम वर्ण का वर्णन नहीं मिलता। इसी तरह गांधीजी सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्त को भी सनातन धर्म मानते थे! उनका यह भी कहना था कि इन सिद्धान्तों का राजनीति के क्षेत्र में प्रयोग भी प्राचीन ही है। वह केवल इतना ही दावा करते थे कि वह अहिंसा का व्यापक क्षेत्र में प्रयोग कर रहे हैं। ग्रामोद्योग और गृह-शिल्प के कार्यक्रम तो प्राचीन हैं ही। बुनियादी शिक्षा का प्रयोग इस समय भले ही नये रूप में और नये अर्थ के साथ हो रहा हो, किन्तु सब प्रकार की शिक्षाओं का मूल यही है। मानव जाति ने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, वह सब क्रिया और निरीक्षण द्वारा ही।

ये सब बातें आधुनिक रीति-नीति और आधुनिक भावना के प्रतिकूल जँचती हैं। आधुनिक विचारवाले ऐसी किसी भी वस्तु को मान्य नहीं समझते, जो नवीन न हो। प्रत्येक लेखक, दार्शनिक और वैज्ञानिक अपने लिये मौलिकता का दावा करता है। यह दावा बड़े जोर-शोर के साथ किया जाता है और उसी जोर-शोर के साथ विरोधियों द्वारा उसका खण्डन भी किया जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि यह वादविवाद बहुत ही कटु और उग्र रूप धारण कर लेता है। इसमें पाण्डित्य एवं विज्ञानोचित अनासक्तता का अभाव होता है। यह दलगत वागवितण्डा का विषय बन जाता है, जिसमें केवल व्यक्ति ही नहीं, बल्कि राष्ट्र भी भाग लेने लग जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र इस बात का दावा करता है कि आविष्कार के क्षेत्र में सर्वप्रथम स्थान उसीका है। इस बात को लोग जानबूझ कर भुला देते हैं कि सत्य चाहे कितना ही पुराना और व्यवहृत क्यों न हो, वह बराबर ही नूतन और क्रान्तिकारी बना रहता है। मानवता के लिए यह सौभाग्य की

बात है कि सत्य कभी पुराना और बासी नहीं होता। यदि ऐसा होता तो आज जितने प्राचीन विचार हैं वे सब व्यर्थ हो जाते और नूतनता एवं मौलिकता की इस प्रतिद्वन्द्विता में उनका अस्तित्व तक विलीन हो जाता। और अधिक-से-अधिक केवल उनका ऐतिहासिक और पुरातत्व-सम्बन्धी महत्व ही रह जाता।

गांधीजी अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करते थे जिससे आधुनिक विचारवालों को उनके विषय में सन्देह उत्पन्न होता था। विद्वान लोग यह समझते थे कि वह मानव जाति के ऊपर परित्यक्त विचार या विधि-विधान को लादने की चेष्टा कर रहे हैं। वह प्रगति को पीछे की ओर मोड़ देना चाहते हैं। विरोधी पक्ष की युक्ति यह थी कि वह जिस बात का समर्थन कर रहे हैं उसकी परीक्षा पहले भी कई बार हो चुकी है मगर वह त्रुटिपूर्ण पायी गयी। इस प्रकार के समालोचक गांधीजी विचारों के मूल में जो क्रान्तिकारी उद्देश्य और भावना काम कर रही थी उसे भुला देते थे। आकार-प्रकार भले ही पुराना हो मगर उनका अभिप्राय, उनका संकल्प और प्रयोग सर्वथा नूतन होता था। लोग इस बात को भूल जाते हैं कि कोई कार्य विशेष करने मात्र से ही उतना क्रान्तिकारी नहीं होता जितना उस कार्य की प्रेरणा जो उसके पीछे होती है, वह भावना जो उसे अनुप्राणित करती है और वह उद्देश्य जिसे ध्यान में रखकर वह कार्य किया जाता है वह उसे क्रान्तिकारी बनाता है। अस्पृश्यता निवारण, गृहशिल्प और मद्यनिषेध ये सब पुराने ढंग के सुधारकार्य हैं। केवल पुराने राजनीतिक दलों द्वारा ही नहीं, बल्कि सभी नये और पुराने सामाजिक और धार्मिक सुधार-आन्दोलनों द्वारा भी उनका पक्ष-समर्थन किया गया है। गांधीजी ने केवल उन्हें प्रचण्ड गतिशील बना दिया और राष्ट्र के अखण्ड जीवन के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित कर दिया। अब वे राष्ट्रीय जीवन से विच्छिन्न आंशिक या पृथक् कार्य नहीं रह गये हैं। राष्ट्र के अस्तित्व के लिये उनकी अनिवार्य आवश्यकता है। इसी ने उनके स्वरूप को क्रान्तिकारी बना दिया है। अब वे केवल प्राचीन प्रेरणायें अथवा प्राचीन मनोभाव ही उत्पन्न करके नहीं रह जाते।

अपने लिए किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करने की गांधीजी की जो यह मनोवृत्ति थी, इसीके साथ घनिष्ट रूप में सम्बन्धित उनकी वह आदत थी जिसके अनुसार वह अपने क्रान्तिकारी विचारों और कार्यों के लिए पुराने शब्दों और वाक्यों का व्यवहार किया करते थे। वह विदेशी पारिभाषिक शब्दों के व्यवहार से बचे रहना चाहते थे। आज के शिक्षित भारतीयों का मन पश्चिमी रंग में रँगा हुआ है। वह पाश्चात्य विचार-सरणि और अभिव्यंजना का अनुसरण करता ह। कोई भी वस्तु, विचार या भाषा तबतक ग्राह्य नहीं समझी जाती

जबतक कि उसपर आधुनिकता की छाप न हो। यह बहुत संभव है कि यदि चर्खे का आकार-प्रकार इस समय की किसी मशीन—जैसे कि कपड़ा सीने की सिंगर मशीन—की तरह होता तो इस युग के शौकीन धनी परिवारों में खड़े पुराने लकड़ी के बने यंत्र की अपेक्षा उसके प्रचलित होने की अधिक संभावना रहती। आधुनिक तरुणी बड़ी तत्परता से मोजा या गंजी बुनने का काम कर लेती है क्योंकि इस समय का यह फशन है। यह एक ऐसा कार्य है जिसे पश्चिम की शौकीन स्त्रियां किया करती हैं। आधुनिक परिस्थिति में चर्खा असंगत जैसा मालूम पड़ेगा। इसलिए सूत कातने की अपेक्षा मोजा या गंजी बनना अधिक पसन्द किया जाता है, भले ही गृहस्थी और राष्ट्रीय अर्थनीति की दृष्टि से सूत कातना अधिक लाभदायक सिद्ध हो। इन सब कामों में समय व्यतीत न करके यदि बौद्धिक कार्यों में समय लगाया जाय तो वह अधिक लाभप्रद होगा, इस प्रकार का तर्क मोजा या गंजी बुनने के विरुद्ध उसी प्रकार लागू नहीं होता जिस प्रकार सूत कातने के विरुद्ध। यदि अपने राजनीतिक लेखों में गांधीजी सत्य और अहिंसा जैसे शब्दों का, जिनके साथ प्राचीन नैतिक एवं आध्यात्मिक अर्थ अभिप्रेत है और जो जनता के लिए सहज ही बोधगम्य हैं—व्यवहार न करके निरस्त्रीकरण और सरल राजनीतिक कौशल जैसे शब्दों का व्यवहार करते तो इस बात की पूरी संभावना थी कि शिक्षित वर्ग उन्हें अच्छी तरह समझ सकता और उनकी सराहना भी करता। ऐसा करने से वह आधुनिक शिक्षितों की दृष्टि में व्यावहारिक और विज्ञानसम्मत प्रतीत होते और वह अपने को अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाणित कर सकते। किन्तु बिना ऐसा किये जब वह राजनीति में सत्य एवं अहिंसा का प्रयोग करते हैं, तो वह व्यावहारिक समझे जाते हैं।

अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने अपनी सुप्रसिद्ध चौदह शर्तों में निरस्त्रीकरण और सरल राजनीतिक कौशल पर विशेष जोर दिया था। किसी ने उनपर रहस्यवादी या अव्यावहारिक होने का दोषारोपण नहीं किया। कम्यूनिस्टों के जो उद्देश्य हैं उनमें भी विश्वव्यापी निरस्त्रीकरण और सरल राजनीतिक कौशल शामिल हैं। प्रत्यक्ष रूप में इन उद्देश्यों के काल्पनिक होने पर भी कम्यूनिस्टों का यह दावा है कि वे विज्ञानसम्मत वास्तववादी हैं और उनके इस दावे को मान भी लिया जाता है। किन्तु गांधीजी के वे ही राजनीतिक उद्देश्य अव्यावहारिक, रहस्यमय और काल्पनिक बन जाते हैं। जो कुछ भिन्नता है, वह केवल शब्दों के हेर-फेर में। अगर बुद्धिमानी के साथ विश्लेषण किया जाय तो राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा निरस्त्रीकरण के सिवा और क्या हो सकती है? यह आशा तो की नहीं जाती कि बिना अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के ही अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध या हिंसा

हो सकती है। आधुनिक युद्ध विना घूंसे की चोट के लड़े जाते और प्राचीन काल में भी विना इसके युद्ध नहीं लड़े जाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में सरल राजनीतिक कौशल का अर्थ सत्य के सिवा और क्या हो सकता है? किन्तु सच बात तो यह है कि जब गांधीजी अपने इन उद्देश्यों को राजनीति में शामिल करते थे तब वह सचमुच ऐसा विश्वास करते थे और इनमें उनकी निष्ठा थी। किन्तु आज के व्यावहारिक राजनीतिज्ञ इन उद्देश्यों की चर्चा भर किया करते हैं, उनका आन्तरिक निष्ठा इनके प्रति नहीं होती। इसी तरह यदि गांधीजी ग्रामोद्योग और गृहशिल्प जैसे शब्दों का व्यवहार न करके—जिन्हें इस देश की जनता समझती है—उद्योग-धन्धों का विकेन्द्रीकरण जैसे शब्दों का व्यवहार करते तो वह अवश्य ही व्यावहारिक और विज्ञान-सम्मत समझे जाते न कि प्रतिक्रियावादी और पुराणपंथी। यदि अपनी नवीन शिक्षा-योजना को वह बुनियादी शिक्षा न कहकर शिक्षा का (Poly-technisation) शिल्पीकरण कहते, जैसा कि रूस में कहा जाता है, तो विद्वानों द्वारा उसका अधिक स्वागत होता। कहा जाता है कि शब्द बुद्धिमान मनुष्य की दूकानदारी की गद्दी और मूर्खों का पैसा होता है। किन्तु भारत में जितने बौद्धिक कार्य होते हैं, वे सब प्रतीकों के द्वारा ही किये जाते हैं।

एक लेखक के रूप में गांधीजी ने अपनी मातृभाषा गुजराती में और अँगरेजी में भी एक विशिष्ट साहित्यिक शैली का निर्माण किया है। उनकी शैली सरल, विशद एवं सब प्रकार के आडम्बर या अलंकार से रहित है। वह रुक्ष है। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह सब प्रायः दीन, दलित एवं समाज के निम्नवर्ग के लोगों को उद्दिष्ट करके लिखा है। उन्होंने राजों-महाराजों, राजकुमारों, शासकों या धनिकों के क्रियाकलाप को लेकर किसी नाटक, उपन्यास या कहानी की रचना नहीं की है। उनके लेखों की विषय-वस्तु आध्यात्मिक होने पर भी उसमें किसी देवी, देवता या किसी धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं रहती। फिर भी तथाकथित प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन में उनका नाम तक नहीं लिया जाता। किन्तु ये ही प्रगतिशील लेखक पुराने कागजों को ढूंढ़कर यदि किसी ऐसे कुलीन धनिक लेखक का पता पा जाते हैं जिसने कभी प्रसंगवश गरीबों का पक्ष-समर्थन किया हो तो उसे वे अपने में ही शामिल कर लेते हैं और चुने हुए लेखकों में उसे स्थान देते हैं। किन्तु गांधीजी उन चुने हुए सर्वहारा लेखकों के अभिजात-वर्ग में शामिल नहीं है। और ऐसा क्यों? यह केवल पक्षपात अथवा राजनीतिक या आदर्शगत मतभेद को लेकर नहीं है। यह प्रधानतः इसलिये है कि गांधीजी ने गरीबों के पक्षसमर्थन में जिस भाषा, शब्द और वाक्यों का

प्रयोग किया है वे विशेष प्रकार के हैं। उन्होंने कम्यूनिस्ट, सोशलिस्ट या तथाकथित वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग नहीं किया है। वह गरीबों की चर्चा किया करते थे, सर्वहारा-वर्ग की नहीं। वह गरीबों के धन के अपहरण करने को चोरी कहा करते थे। वह आधुनिक पारिभाषिक शब्द "पूंजीवादी शोषण" का प्रयोग नहीं करते थे। वह न्याय एवं साम्य की स्थापना की चर्चा किया करते थे। ये सब नीतिवाचक शब्द हैं। इनका मनोवैज्ञानिक अभिप्राय है। सोशलिस्ट और वैज्ञानिक भाषा में शोषण, श्रेणी-संग्राम और वर्ग-संघर्ष जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। चूंकि गांधीजी अनुमोदित भाषा का प्रयोग नहीं करते इसलिये वह प्रगतिशील लेखकों की श्रेणी में नहीं आ सकते जब कि कोई भी युवक, जिसने एक या दो लेख प्रकाशित कराये हैं और उन लेखों में नये राजनीतिक-आर्थिक शब्दों का – बिना उन शब्दों और वाक्यांशों का वास्तविक तात्पर्य समझे प्रयोग किया है—अपने को एक प्रगतिशील लेखक समझने और कहने का हकदार हो सकता है और उसका यह दावा मान भी लिया जाता है। इस प्रकार के लेखकों का प्रगतिशील होने का दावा चाहे जो कुछ हो किन्तु वे साहित्यिक कलाकार कहे जा सकते हैं या नहीं इसमें सन्देह ही है। तोते की तरह उन्होंने कुछ वाक्यांश रट लिये हैं, जिससे आधुनिक शिक्षा और प्रगति की छाप उनके ऊपर पड़ जाती है।

आधुनिक शिक्षित-वर्ग को पहले शब्दों के क्रूर शासन से अपने को मुक्त करना होगा तभी वह गांधीजी के विचारों को अच्छी तरह समझ सकता है और उनका यथार्थ मूल्य निरूपण कर सकता है। किन्तु आज के औसत शिक्षित व्यक्तियों से शायद ही यह आशा की जा सकती है कि वे शब्दों की प्रवञ्चना से अपने को बचाये रखेंगे।

०

मैं उस भारतवर्ष के गठन के लिये कार्य कर जाऊँगा, जिस भारतवर्ष में दीनतम व्यक्ति भी यह समझेगा कि देश उसका है। इस देश के गठन में उसके मत का भी मूल्य होगा। उस भारतवर्ष में उच्चश्रेणी या नीचश्रेणी के रूप में मनुष्य का कोई समाज नहीं होगा। उस भारतवर्ष में सब सम्प्रदाय आपस में श्रेष्ठ प्रीति का सम्बन्ध रखते हुए वास करेंगे। उस भारतवर्ष में अस्पृश्यतारूपी अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं रह जायगा। उत्तेजक पेय अथवा किसी अन्य मादक द्रव्य को प्रश्रय नहीं दिया जायगा। नारी समाज पुरुष समाज के समान ही अधिकार का भोग करेगा। यही

वज्रपात !

श्रीसोहनलाल द्विवेदी

आज देश पर अनभ्र वज्रपात है हुआ !
आज देश के महान प्राण मृत्यु ने छुआ !
बन अमृत जिला रही कि जिस फकीर की दया,
आज वही महाप्राण देश में
रहा नहीं !

घिर गया महान अंधकार आज देश में,
घाव है असीम हुआ इस तरह स्वदेश में,
है बुझा गया चिराग काल छद्मवेश में,
लड़खड़ा रही जबान, जा रहा
कहा नहीं !

कोटि-कोटि हैं, मगर वही न एक आज है,
कोटि-कोटि हैं, मगर, वही न रहा राज है,
कोटि-कोटि हैं, मगर, रहा न शीश ताज है,
जा रहे महात्मा, अभाग्य ! चल
निहार ले !

लाल रक्त से रँगा निकल रहा बिहान है,
जा रहा शरीर, सजा फूल से विमान है,
है समस्त देश बन गया, महामसान है,
आज भी सँभल स्वदेश, भूल को
सुधार ले !
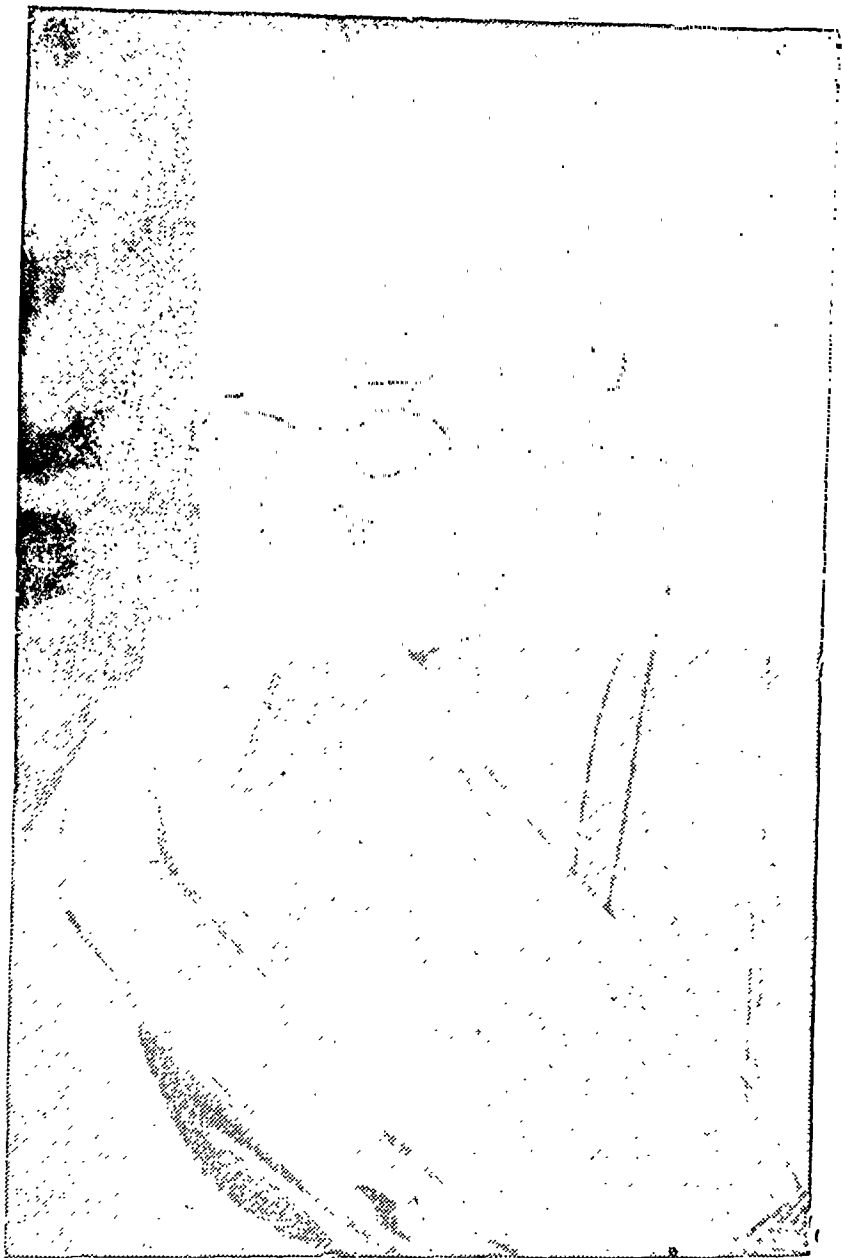
अरे हाय ! कैसे हम झेलें, अपनी लज्जा, उसका शोक !
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्रपिता परलोक !!

—मैथिलीशरण गुप्त

गांधीजी के कर्म-दर्शन की भावभूमि

श्रीरतनलाल जोशी, एम० ए०

कर्म के प्रति जो श्रद्धा तीव्र तन्मयता के क्षणों में हमारे भीतर अग्नि-स्फुलिंग की भाँति स्वतः ही उदित हो उठती है, वह शक्ति-प्राप्ति द्वारा आनंद-भोग की हमारी स्वाभाविक इच्छा है। मनुष्य के समस्त कर्मों के भीतर आनंद की कल्पना रहती है। यह आनंद शक्ति-प्राप्ति के वाद की भावात्मक अवस्था है। अतः कर्म की चेतना वस्तुतः शक्ति की चेतना है। शक्ति की चेतना स्वाभाविक इसलिए है कि उसका उद्गम जीवन के संघर्ष, जीवन की चुनौती से होता है। हमारे दैनिक जीवन की समस्यायें और वाधायें जहाँ हमारे मार्ग को कंटकाकीर्ण करती हैं, वहाँ हमें कर्म के लिए उत्तेजना भी देती हैं। शक्ति की चेतना की तृषा का तोष कठिन समस्याओं को हल करने और विघ्न-वाधाओं को पराजित करने से होता है। विजय का यह क्षेत्र जितना विस्तीर्ण होता जायगा, शक्ति की चेतना भी उतनी ही सवल होती जायगी। लेकिन आनंद का कारण विजय नहीं है। विजय तो इस आनंद-यात्रा का एक विश्राम-स्थल है। आनंद का वास्तविक स्रोत मूलतः स्वयं जीवन-संग्राम है। यदि सफलता को ही आनंद मान लिया जाय, तो जीवन में आकर्षण ही क्या रह जाता है? विजय विश्रांति है, निष्क्रियता है और अंततः मृत्यु है। अतः आनंद कर्म-प्रसूत ही है। कर्म की गति जितनी विस्तृत और तीव्र होगी, आनंद की अनुभूति भी उतनी ही व्यापक और गहरी होगी और शक्ति की चेतना भी उसी अनुपात में महत्व प्राप्त करेगी।

कर्मयोग के साथ सम्बद्ध अनेक प्रश्नों का उत्तर खोजते समय हमें कर्म के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना होगा, अन्यथा हठवाद एवं अंध-प्रगति हमारे उत्कर्ष का अंत कर देगी। मानवता के इतिहास में महात्मा गांधी का महत्व अनंतकाल तक इसीलिए अक्षुण्ण वना रहेगा कि उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में सत्य के इस रूप की परीक्षा की है। अपनी अनुभूति के वल पर उन्होंने संसार को यह वतला दिया कि जीवन के आनंद का सारा रहस्य संघर्ष में है—सत्य के दर्शन जीवन के संघर्ष के भीतर ही किये जा सकते हैं। आनंद और आशावाद का ऐसा संदेश मानवता को अभी तक इतनी सहानुभूति और विपुलता के साथ नहीं मिला था! पराजय, नैराश्य और विषाद से व्याकुल हमारे आज के जीवन ने आत्म-विश्वास ही नहीं, वरन् भविष्य की आशा को भी खो दिया था। जीवन की सारी मान्यतायें लुप्त हो चुकी थीं। इस पतन का मूल कारण यह है

कि हम कर्मयोग की मनोवैज्ञानिक प्र रणाओं को समझने से इन्कार कर रहे ह। गांधीजी न एक सच्चे कर्मयोगी के रूप में कर्म के मनोविज्ञान को आचरण की कसौटी पर कसकर सारी मानवता के सामने यह प्रत्यक्ष कर दिया कि जीवन का सारा सौन्दर्य, सारा आनंद सत्य की कंटकाकीर्ण कर्मभूमि में निर्भीक योद्धा बनकर संघर्ष करने में हैं—जीवन का मूल्य संघर्ष की गहराई में ही निर्धारित होता है।

भीतर के अव्यक्त को व्यक्त करना ही जीवन का विकास है। हमारी समस्त प्रवृत्तियों का ध्येय यही रहता ह। अस्पष्टता और अन्धकार से मुक्त होने के लिए हमारी चेतना प्रतिक्षण प्रयत्न करती है। इसे ही हम मुक्ति का प्रयास कह सकते हैं। आत्मा अपने ही अन्धकार से मुक्त होने के लिए व्याकुल रहती है। संतों के साहित्य में वर्णित 'अन्तर्वेदना' और 'ईश्वर-विरह' वस्तुतः आत्मा द्वारा अपने अन्धकार से मुक्ति पाने की यह छटपटाहट ही है; क्योंकि अपने भीतर की अस्पष्टता से अधिक भयानक और कोई कारागार नहीं है। चराचर सृष्टि के सारे परिवर्तन और सृजन इस मुक्ति की प्राप्ति के ही लिए होते हैं। कर्म की मूल प्रेरणा यही ह। बीज इसा प्रेरणा से अंकुर में प्रस्फुटित होता है और इसीलिए मृत्यु के बाद जन्म होता है। प्रकाश जिस प्रकार अपने आसपास के आवरणों को चीरकर बाहर निकालने के लिए दूर-दूर तक अपनी किरणों को फैलाने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार हमारी आत्मा भी अपने आस-पास के अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए बाह्य विश्व में दूर-दूर तक अपने कर्म-तन्तु फैलाती है। कर्म-चेष्टा का यह विस्तार ही हमारा कर्मक्षेत्र है। व्यक्ति की कर्मचेष्टा के प्रसंग में यह कर्मक्षेत्र अपनी परिधि में वैयक्तिक हैं। इस जगत की विराट् कर्मभूमि ऐसे अगणित कर्मक्षेत्रों से मिलकर बनी है। अगणित आत्माएँ अपने अव्यक्त के आवरणों को चीरकर इस कर्मभूमि में व्यक्त होना चाहती हैं। असंख्य निराकार आदर्श साकार होने की चेष्टा करते हैं।

वैयक्तिक कर्मभूमि का मौलिक रूप बीज का अंकुर के रूप में प्रस्फुटित होना है और समष्टि की कर्मभूमि का रूप गीता में वर्णित विराट् रूप है। इन दोनों का अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध स्पष्ट है। व्यक्ति में समष्टि के प्रसुप्त रहने की यही चरितार्थता है। हमारे उपनिषदों द्वारा घोषित 'प्राणो विराट्' की भावभूमि यही है। यह कर्मक्षेत्र जन्म एवं मृत्यु के परिवर्तनों से प्रवाहित नहीं होता। अनादि-अनंत काल से यह कर्मधारा बह रही है और आगामी काल में भी अखंड रूप से प्रवाहित होती ही जायगी। इसका स्रोत अजस्र है, अमर है। आरण्यक में उल्लेख है कि अनंत जीवन से ही सब वस्तुओं का आविर्भाव हुआ है और जीवन के स्पंदन में ही सबका अस्तित्व है।

व्यक्ति और समष्टि के इस सम्बन्ध का अनुभूत्यात्मक ज्ञान ही आत्मसाक्षात्कार है ; लेकिन यह ज्ञान आसान नहीं है। यह असंख्य विभिन्नताओं में एकता की अनुभूति है। ये विभिन्नतायें ही माया के आवरण हैं, जिनके विषय में सारे संसार के पैगम्बरों ने काफी कहा और लिखा है। गांधीजी ने भी जब इस ध्येय को अपनाया, तो इस ज्ञानार्जन के मार्ग की कठिनाइयाँ उनके सामने भी आईं ; लेकिन वे सबका अतिक्रमण कर गये ; क्योंकि इस विराट् कर्मभूमि के रहस्य का उन्होंने उद्घाटन कर लिया था। प्रत्येक पिंड में समाहित आत्मा व्यक्त होने के लिए व्याकुल है, यह सत्य उन्होंने हृदयंगम कर लिया था।

विभिन्नताओं की असलियत को गांधीजी के अंतर्चक्षुओं ने देख लिया था और इस अनुभव से अपने संकल्प की साँसों को नई शक्ति से अनुप्राणित कर लिया था। उन्होंने समष्टि के समस्त आवरणों को भेदकर देखा और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि एक अचित्य शक्ति सारे दृश्य-व्यापार का संचालन कर रही है।

"दृश्य धुँधला है, लेकिन मैं निश्चित रूप से यह देख रहा हूँ कि जहाँ मेरे आस-पास की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और क्षय को प्राप्त हो रही है, वहाँ इस समस्त परिवर्तन में एक महती चिरन्तन सत्ता का निवास है, जो अपरिवर्तनीय है और जो सबका सृजन, धारण एवं संहार कर रही है। यह स्वयंभूत शक्ति परमात्मा ही है और जब कि यह पंचभूतात्मक दृश्य-प्रपंच परिवर्तनशील और नश्वर है, तो अकेली यह सत्ता ही अनंत और अनादि है।"

सत्य के इस रूप का दर्शन, दूसरे शब्दों में, मानव में विराट की अनुभूति है। मनुष्य की पूरी मान्यता को इस प्रकाश में ही हृदयंगम किया जा सकता है। मनुष्य के आसपास मिथ्या के जो अनेक आवरण हैं, उनको इस प्रकार चीरकर उसके अंतराल में इस प्रकार देखना ही माया के बंधन से मुक्त होना है—

"पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्
एतद् यो वेद निहतं गुहायां सोऽविद्याग्रंथि विकिरतीह सोम्या"

"मनुष्य ही समस्त कर्म, तपस्या, ब्रह्म और परम अमृत है। वह विश्वरूप है। मिथ्या के आवरणों में प्रच्छन्न मनुष्य को पहचानना ही अविद्या के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना है।" (मुंडकोपनिषद् २-१-१०)

सारे सत्यों का सत्य यही है। मनुष्य के असली रूप को पहचानने में हम प्रकृति की उपेक्षा करते हैं, जिसका दंड हमें भोगना पड़ रहा है। प्रतिक्रिया के रूप में सारी मानवता को बार-बार नरमेध के अग्निकुंड में जलना पड़ता है। मानव का अपमान विराट् का अपमान है, क्योंकि मानव में ही विराट् मूर्तिमान हुआ है। पिंड में ब्रह्माण्ड के सत्य के प्रति हम कब से उदासीन बने हुए हैं ? हमारे

सर्वाङ्गीण पतन का मूल कारण यही है। इस कारण के निराकरण के बिना हमारा सही दिशा में अग्रसर होना असम्भव है।

हमारी इस दिक्भ्रान्ति के दो मार्ग हैं। एक ओर तो हम इस क्षणभंगुर देह के अविनाशी निवासी को संरक्षण देने के लिए लोकजीवन के प्रति आत्मग्लानि प्रकट करते हुए जंगलों और पहाड़ों की गुफाओं में जाकर बैठे। लोकेश्वर को लोक से अलग और विच्छिन्न करके हम उसे अपनी आत्मा में मूर्त करने चले थे! दूसरी ओर हमने अपने व्यक्तिगत अंतःकरण को ही सर्वस्व समझ लिया था। अपनी संकीर्ण परिधि में हमने विराट् की सत्ता उतारने के बजाय ऐहिक भोगेच्छा से ही उसे आच्छन्न कर दिया। हम व्यक्ति और समष्टि के मूल सत्य को भूल गये। मानवता के अनिवार्य आवाहन को हमारे कानों ने नहीं सुना और हम निरन्तर मानव के भीतर समाहित विराट् का निरादर करते रहे।

गांधीजी ने हमारे पतन के इस मूलभूत कारण को पहचाना था और उनका सारा जीवन इस सत्य के साक्षात्कार में ही बीता। जिस अचिंत्य सत्ता की प्रतिच्छवि उन्होंने सृष्टि के सारे उपकरणों में देखी थी, उसका निवास वे मनुष्य के भीतर मानते थे :—

"इन कोटि-कोटि मनुष्यों के अंतःकरण में जिस परमात्मा का निवास है, उसके सिवाय अन्य किसी ईश्वर पर मेरी आस्था नहीं है। चाहे ये नर-नारी उस ईश्वर में विश्वास न करते हों, किन्तु मेरी श्रद्धा तो उसमें अचल है। इस मानव-समाज की सेवा के द्वारा ही मैं अपने ईश्वर की उपासना करता हूँ।"

मनुष्य के वास्तविक महत्व का यह रहस्योद्घाटन हमारी आध्यात्मिक परम्परा का मूल विषय है; किन्तु आज उस परम्परा से हमारा सम्पर्क विच्छिन्न हो चुका है। आज हमारे संकल्पों की पार्श्वभूमि हमारा अतीत कालीन चिंतन-क्षेत्र न होकर हमारा कूपमंडूकत्व ही है। जिस वैदिक संस्कृति का हम विदेशियों के सामने गर्व करते हैं, उसकी साधारण रूपरेखा का भी हमें ज्ञान नहीं है। वेदों का मूलभूत विषय मनुष्य के सिवाय और है ही क्या? पिंड में ब्रह्मांड की अभिव्यक्ति का कितना सशक्त उदाहरण अथर्ववेद में है?

"समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेवि समाहिताः" (अथर्व० १०–७–१५)

"सारे समुद्रों का विराट् प्रवाह इस मनुष्य की नाड़ी में ही निरन्तर स्पंदित होता रहता है।"

व्यक्ति और समष्टि के सम्बन्ध का इससे उत्तम उदाहरण कहाँ मिलेगा?

भारत की अतीतकालीन संस्कृति की महानता का रहस्य मनुष्य के प्रकृत महत्व की अनुभूति है। उस काल में मनुष्य सारी सृष्टि की एक इकाई के रूप में

पहिले 'मनुष्य' था, बाद में और कुछ ! स्वर्ग-राज्य की मानसिक लिप्सा जाग्रत नहीं हुई थी और मनुष्य ने न तो देवता का बाना पहिना था और न दानवत्व के निम्न स्तर पर ही वह उतर आया था। भेद-भाव की दीवारें खड़ी नहीं हो पाई थीं। वेद और उपनिषद् इस सत्य के ज्वलंत प्रमाण हैं। अथर्ववेद के द्वादशकांड का आरम्भ जिस सूक्त से होता है, उस 'महीसूक्त' को कौन नहीं जानता ? इस सूक्त की मूलभूत बात यह है कि इसमें ऋषियों ने पृथ्वी की उपासना की है। उसमें स्वर्ग की उपासना की ओर संकेत तक भी नहीं है। सारे अथर्ववेद में इस भावना का आभास हमें मिलता है। ऋषि-मुनि-स्वर्ग-सुख के लिए लालायित नहीं थे, उन्हें पृथ्वी के अपरिमित वैभव से सन्तोष मिल जाता था। इन पृथ्वी-उपासकों की दृष्टि में पृथ्वी-पुत्र मानव के प्रति भी अपार स्नेह और सम्मान होना चाहिये। हमारी सारी आध्यात्मिक परम्परा का सारा इतिहास इस स्नेह और सम्मान की ही अभिव्यक्ति है। हमारे उपनिषदों की घोषणा है—

"ईशावास्यमिदम् सर्वम् यत् किंच जगत्याञ्जगत्।"

"इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को परमात्मा से आवृत जानो।"

इस घोषणा के अनुसार तो मनुष्य ही क्या सारे चराचर जगत के प्रति स्नेह और समादर की भावना है।

मनुष्य के इस प्रकृत महत्व को आज का मानव-समाज भूले हुए था। विज्ञान-वादियों के निरपेक्ष दृष्टिकोण से अनायास ही यह आशा जाग्रत हुई थी कि मानव का ध्वस्त-त्रस्त प्रकृत गौरव नवजीवन प्राप्त करेगा, किन्तु जीवन के निःसंग विश्लेषण का दावा करनेवाले वैज्ञानिकों ने एक ओर पतित पूंजीवाद से और दूसरी ओर मानसिक जड़वाद से गँठबंधन करके निखिल मानवता के साथ ऐसा विश्वासघात किया है, जिसे मनुष्य की कई सदियाँ विस्मृत नहीं कर सकेंगी। वैज्ञानिक सामान्य जनता के दुखसुख का साथी न रहकर राजनीति और पूंजी के हाथों की निरुपाय कठपुतलीमात्र बन गया। ऐसी स्थिति में जनता के लिए उसका उपयोग ही क्या रह गया है ? वह यंत्रवत् अपने स्वामियों के आदेशों का पालन करता है। विज्ञान का वास्तविक ध्येय उसकी आँखों से ओझल हो गया है। इस प्रकार आज के वैज्ञानिक ने स्वयं अपने को ही कलुषित नहीं किया है, वरन् विज्ञान के ध्येय और साधनों को भी कलंकित कर दिया है। गांधीजी ने वैज्ञानिक आविष्कारों पर आधारित आधुनिक सभ्यता की इसीलिए निंदा की है। वे उसे शैतान की सभ्यता मानते हैं—

"समय और दूरी को नष्ट करने की इस उन्मत्त आकांक्षा की मैं कड़े शब्दों में निंदा करता हूँ। पाशविक वासनाओं का संवर्धन और उनकी पूर्ति के लिए पृथ्वी

के छोरों का अन्वेषण भी मेरी दृष्टि में घृणित है। यदि आधुनिक सभ्यता यही है, तो यह शैतानी सभ्यता है।"

गांधीजी की ईश्वरानुभूति का मूल स्रोत मनुष्य है। ईश्वर में उनकी आस्था इसीलिए है कि भूतमात्र के लिए उसकी करुणा का कोष सदैव खुला रहता है। उनकी भावना का ईश्वर किसी सम्प्रदाय-विशेष का ईश्वर नहीं है, वरन् सारी सृष्टि में व्याप्त होकर वह प्राणिमात्र की प्रवृत्तियों का संचालक है। उसके सामने सर्वत्र समत्व है। उसकी अत्यन्त दयापूर्ण दृष्टि में कहीं भी किसी के भी प्रति हीनता की भावना नहीं है। अपने ईश्वर के रूप का स्पष्टीकरण स्वयं गांधीजी ने इस प्रकार किया है—

"मेरा ईश्वर अनेकरूपी है। कभी मैं उसे चरखे में देखता हूँ, कभी साम्प्रदायिक एकता में, कभी अस्पृश्यता-निवारण के प्रयत्नों में मैं उसकी महिमा के दर्शन करता हूँ। मेरी आत्मा इसी प्रकार प्रेरणायें ग्रहण करती हुई उसकी अनुभूति में लीन हो जाती है। उसके साथ एकाकार होने के लिए मेरे पास यही प्रणाली है।"

भारत के पतन का मूल कारण दासत्व था, जिसकी छाया में तीन विष-वृक्ष पनपे थे—व्यापक दैन्य, साम्प्रदायिक विद्वेष और अस्पृश्यता। गांधीजी ने जब भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम का नेतृत्व किया, तो इन विष-वृक्षों का मूलोच्छेदन स्वाभाविकतः ही उनका प्रथम उद्देश होना चाहिए था। लेकिन आध्यात्मिक धरातल पर इन व्याधियों का परिहार युग के लिए नवीन चमत्कार था। कारण यह कि गांधीजी वाह्यारोप के बजाय अंतःकरण द्वारा बुराई के स्वतः विक्षेप पर विश्वास करते थे।

ब्रह्मानुभूति की ऐसी गहराई और व्यापकता प्राप्त करने की साधना 'क्षुरस्य धारा' के समान बताई गई है। ऋषियों को ही यह समत्व-दृष्टि प्राप्त हो सकती है। 'ऋषि' की हमारे शास्त्रों ने यही परिभाषा दी है—

सम्प्राप्यनम् ऋषयो ज्ञानतृप्तः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्तः
ते सर्वगम् सर्वतः प्राप्य धीराः
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति

"वे, जिन्होंने ज्ञान में परम आत्मा को प्राप्त कर लिया है, विवेक से परिपूर्ण हैं और आत्मा के साथ परमात्मा की एकता स्थापित करते हुए अपने अंतःकरण में समत्वभाव पैदा कर लिया है, इस साक्षात्कार के बाद उनकी स्वार्थमयी भावनाओं का भी अंत हो गया है और जगत् के समस्त क्रिया-व्यापारों में उसकी अनुभूति प्राप्त करके उन्होंने शान्ति का उपार्जन कर लिया है। ऋषि तो वे हैं,

जिन्होंने घट-घटवासी परमात्मा की प्राप्ति में शाश्वत शान्ति का अनुभव कर लिया है, वे सबके साथ एकाकार हो गये हैं और सारी सृष्टि के जीवन में उनका प्रवेश हो गया है।"

गांधीजी की ब्रह्मानुभूति इन लक्षणों के साथ पूरा-पूरा सादृश्य रखती है। उनका ब्रह्मलीनता चराचर लीनता हो गई थी। उनके अंतःकरण के विस्तार से कुछ भी अस्पृश्य नहीं रह गया था।

०

प्रार्थना का अर्थ है ईश्वर की महिमा का गान करना। प्रार्थना के समय हमलोग अपनी समस्त अकृतार्थता एवं दुर्बलता की बातें निश्छल भाव से स्वीकार करते हैं। ईश्वर सहस्र नाम से परिचित है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वह अव्यय और नामहीन है। चाहे जिस नाम से हम उसका भजन कर सकते हैं। कोई उसे राम कहता है, कोई कृष्ण, कोई रहीम और कोई 'गाड'। किन्तु सबकी प्रार्थना उसे एक ईश्वर के प्रति ही होती है। जिस प्रकार खाद्यमात्र में सबकी रुचि नहीं होती, उसी तरह सब लोग एक ही नाम को पसन्द नहीं भी कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन की परिस्थिति के अनुसार ईश्वर का नाम अपने लिये चुन लेता है, किन्तु सर्वशक्तिमान, सर्वत्र विराजमान अन्तरंग ईश्वर के समीप हम सब की मनोगत प्रार्थना पहुँच जाती है और हमारी योग्यता के अनुसार वह हमारी प्रार्थना को पूर्ण करता है। —म० गाँधी

०

अभय हुए विना सत्य का अनुसन्धान किस तरह किया जा सकता है? ईश्वरलाभ का पथ वीर पुरुष के लिए ही है, भीरु के लिए नहीं। सत्य ही हरि है, सत्य ही राम, सत्य ही नारायण, सत्य ही वासुदेव। जो भीरु होता है, वह भय से भीत होता है और वीर भय से मुक्त होता है। वह तलवार आदि शस्त्रों से भीत नहीं होता। तलवार वीरत्व का व्यञ्जक नहीं है, भीरुता का चिह्न है। —म० गांधी

०

वेद ऋचायें थीं सांसों में······

प्रो० 'अंचल'

वेद-ऋचायें थीं साँसों में मुक्ति बसी थी तन में,
दृष्टि भरी थी वरदानों से मूर्त विभा थी मन में,
स्वर्ग विकल होता था बापू की आत्मा के दुख से,
राम नाम उज्ज्वल होता था कढ़ उस करुणा-मुख से ;
जीवित था विश्वास और संकल्प हृदय-कंपन में,
विम्बित होती थी शिवता मुस्कानों के दर्पण में।
देह जली पर प्राणों का प्रह्लाद नहीं जल पाया,
कौन जला पाया हिमगिरि को, कौन बुझा शशि पाया ?
चुका वक्ष का रक्त अपरिमित, प्रेम-सिन्धु जीवन का
देता रहा मोल जो युग-युग के अभिशप्त मरण का।
अधिदैवत्व क्षमा का मानव ममता की ईश्वरता
मूर्त हुई थी तापस-तन में पर-सेवा-वत्सलता ;
कौन सुनेगा अब पुकार पीड़ित जग के जन-जन की,
कौन हरेगा दाह-तृषा चेतनता के कण-कण की ?
हाड़ चाम के पुतलों में बलि की बिजली का चालक,
त्यागाहुति के शोलों का अरुणाभ—पुण्य का पालक,
ऐसा था देवर्षि हमारा बापू राष्ट्र-विधाता
ऐसा था वह अमर ज्योति का—अबुझ दीप्ति का दाता !
निर्वापित हो गयी आरती राम नाम के जप की
काँप रही हैं नीवें फिर श्रद्धा-निष्ठा की—तपकी ;
वेद ऋचायें थीं साँसों में, सत्य-शिखा अन्तर में,
पदरज में संतत्व बसा था—देव सृष्टि थी स्वर में।
रोम रोम से चैत्य चाँदनी का चन्दन झरता था,
रोता था प्रभु स्वयं कि जब बापू का मन भरता था ;
वह सहिष्णुता का देवल, वह शान्ति-स्नेह का संबल,
वह तन्मयता का स्वामी—उज्ज्वलता से अति उज्ज्वल।
थी सदेह अवदात विमलता उस निष्कामी तन में,
वेद-ऋचायें थीं साँसों में, राम मूर्त था मन में !

...शताब्दी के दो महापुरुष—महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र
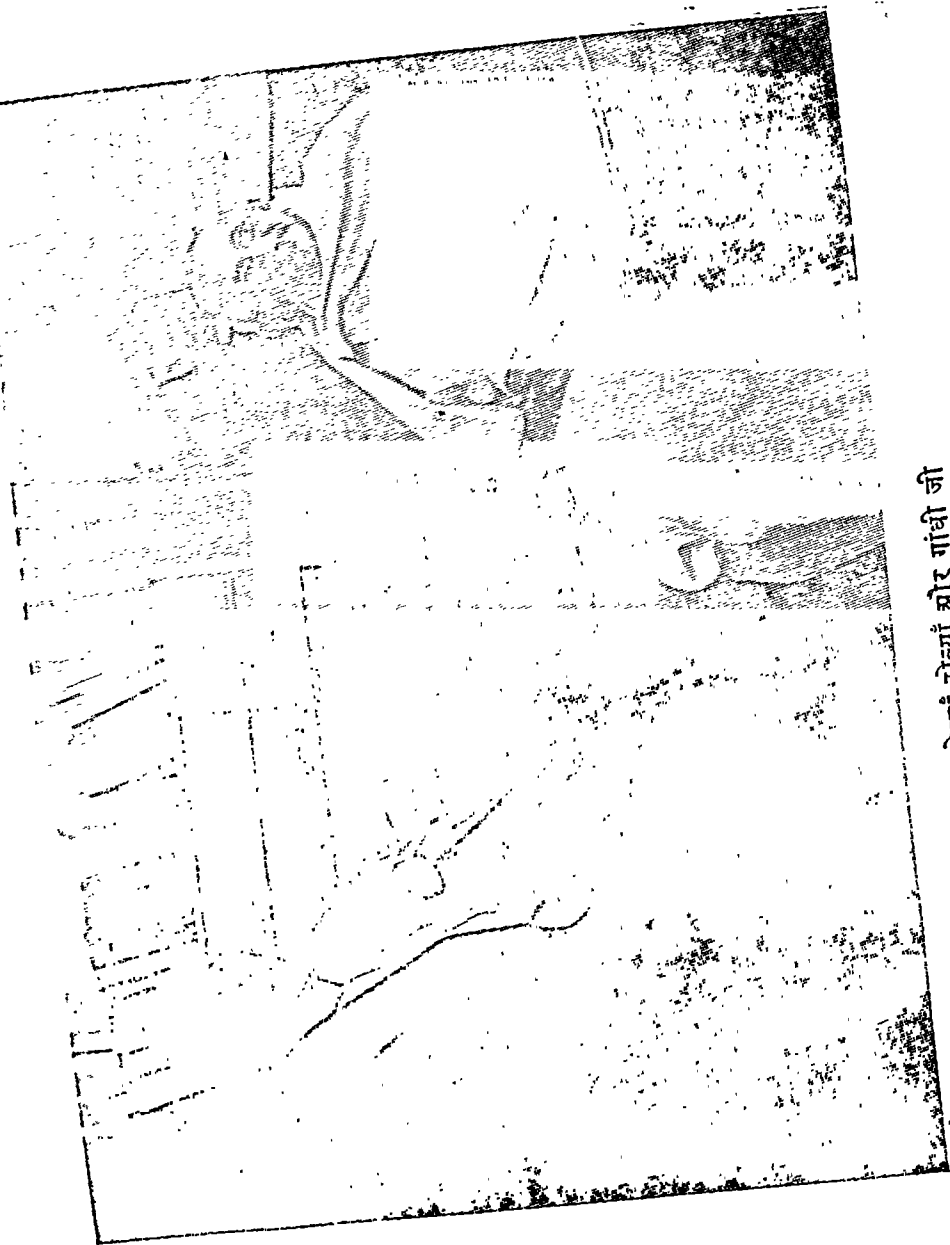
रोम्याँ रोल्याँ और गांधी जी

गांधीजी और रोम्याँ रोलयाँ

प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

महात्मा गांधी और महाप्राण रोम्याँ रोलयाँ—एक ही युग में उत्पन्न होनेवाले इन दो महामानवों के जीवन-दर्शन और उनकी विचारधाराओं पर यदि हम विचार करें तो हमें उनके मूल में एक अपूर्व ऐक्य एवं सामञ्जस्य दिखायी पड़ेंगे। यह सच है कि दोनों के कार्यक्षेत्र भिन्न-भिन्न थे और जिस दृष्टिकोण को लेकर दोनों ने जीवन को देखा था, उसमें भी उनकी निज की विशेषतायें थीं। किन्तु उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं का मान लेने के बाद भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रहते कि इन दो महापुरुषों के जीवन-दर्शन में एक ऐसा अन्तर्निहित सत्य था जो दोनों के व्यक्तित्व को परस्पर दूर होते हुए भी एक कर देता था। देश, काल और धर्म की संकीर्ण सीमा से ऊपर उठकर जब हम व्यापक दृष्टि से किन्हीं दो महापुरुषों के जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब हमारा ध्यान उनके निजत्व एवं वैशिष्ट्य पर ही नहीं बल्कि उनके बीच जो ऐक्य एवं सामञ्जस्य होते हैं उनकी ओर भी आकर्षित हुए बिना नहीं रहता। यही कारण है कि गांधीजी और रोम्याँ रोलयाँ इन दोनों को एक साथ बैठाकर जब हम इनके कार्य-कलाप की तुलनात्मक आलोचना करने लगते हैं तब हमें इस बात पर सन्तोष होता है कि दोनों में कितना भावसाम्य था और दोनों के जीवनादर्श किस प्रकार समन्वयमूलक थे।

रोम्याँ रोलयाँ एक महान् कलाकार थे। कलाकार की दृष्टि से ही उन्होंने जीवन को देखा था और जीवन में जो कुछ कुत्सित एवं कदर्य, अशोभन एवं असुन्दर है उससे, उनका शिल्पी मन विरक्त हो उठा था। सौन्दर्य के अनन्योपासक रोम्याँ रोलयाँ ने अपने सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी के लिए किसी अमरावती की रचना न करके इस धूलि-धूसरित पृथ्वी पर ही उसके मन्दिर-निर्माण का स्वप्न देखा था। उनका शिल्पी मन कल्पना के किसी मायालोक में विचरण न करके नित्य के इस कर्मकोलाहलमय जगत में ही विचरण करता था। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही दो-दो महायुद्ध की विध्वंसलीलायें देखी थीं। इन युद्धों के कारण पृथ्वी के वक्षस्थल को क्षतविक्षत तथा रक्ताक्त देखकर उस कलाकार की कोमल भावनाओं पर कितना निष्ठुर आघात पहुँचा था! जाति-जाति में, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में, मनुष्य-मनुष्य में वैर-विरोध और हिंसा-प्रतिहिंसा का पैशाचिक उल्लास। करु

एवं प्रीति, क्षमा एवं मैत्री, उदारता एवं महानुभावता का कहीं नाम नहीं। सर्वत्र लोभ-लालसा एवं परस्वापहरण की उद्दाम प्रवृत्ति। पशुबल का औद्धत्य एवं शक्तिमानव का दौरात्म्य। रोम्याँ रोल्याँ के ही शब्दों में आज के जगत के इस नारकीय दृश्य "The Spectacle of the world today is hellish" के बीच सौन्दर्य की सृष्टि किस प्रकार सम्भव हो सकती है? इस दृश्य ने शिल्पी की सौन्दर्य-भावना को भीषण रूप से झकझोर दिया। वह एक ऐसे समाज का स्वप्न देखने लगा जो साम्य एवं मैत्री, स्नेह एवं सहानुभूति, न्याय एव नीति के आधार पर गठित होगा और इस प्रकार के समाज में ही तो सौन्दर्य का शतदल प्रस्फुटित होकर शिल्पी के मन को मुग्ध कर सकता है।

सौन्दर्य, शिल्पी रोल्याँ अपने इस सौन्दर्य को वास्तव रूप देना चाहते थे। तभी तो समाज का स्वार्थकलुषित एवं हिंसाविषमूर्च्छित रूप देखकर उनका सौन्दर्य-बोध क्षुण्ण हो उठा था। कलाकार की एकान्त सौन्दर्य-साधना अब उनके लिये काम्य नहीं रह गयी। उन्होंने निपीड़ित महामानव का क्रन्दन सुना। वह महामानव जो हिंसा, लोभ, अत्याचार एवं उत्पीड़न के कारण अपनी महिमा को खो चुकी है। मानव-महिमा का यह अपमान उनके लिए असह्य था। मानव समाज को हिंसा एवं विद्वेष के विषाक्त वातावरण से मुक्त करने के लिए उन्होंने अपना स्थान जीवन के संघर्ष और कोलाहल के बीच ग्रहण किया। सौन्दर्योपासक होने के नाते ही मानवता के पुजारी बने और इसी मानव प्रीति के कारण वह कलाकार रोम्याँ रोल्याँ के बदले क्रान्तिकारी रोम्याँ रोल्याँ बने। अब उनके लिये शान्तिमय जीवन का कोई आकर्षण नहीं रह गया।" "I do not seek peace, I seek life." अब उसे शान्ति नहीं जीवन चाहिए। इस जीवन का जो दुर्निवार आकर्षण है वही उसके मानसपुत्र जाँ क्रिस्तफर को अशान्ति के बीच, अनन्त संग्राम के बीच ठेले जा रहा है। अब उसे वर्त्तमान निष्ठुर एवं क्रूर युग में भी एक सौन्दर्य दिखायी पड़ता है। अब सौन्दर्य की मृदु, कोमल भावना नहीं, कठिन कर्कश भावना उसे आकर्षित करती है। रोम्याँ रोल्याँ के शब्दों में "It is a hard epoch, it is cruel but it is beautiful to be strong."

जिस प्रकार सौन्दर्य-प्रेम ने शिल्पी रोम्याँ रोल्याँ को मानवप्रेमी क्रान्तिकारी रोम्याँ रोल्याँ बनाया उसी प्रकार सत्यप्रेम ने गांधी को राजनीतिक संग्राम का सेनापति और मानवप्रेमी क्रान्तिकारी बनाया। एक ने सौन्दर्य के माध्यम से जीवन के सत्य को उपलब्ध करने की चेष्टा की और दूसरे ने सत्य के द्वारा शिव की साधना की। एक ने सत्य की पूजा सौन्दर्य में की और दूसरे ने सत्य में शिव और सुन्दर की। मानव के प्रति असीम प्रेम हृदय में धारण करने के कारण ही दोनों में से

एक भी जीवन के संग्राम एवं कोलाहल से अपने को विच्छिन्न नहीं रख सके। एक ने साहित्य के माध्यम से विश्वशान्ति एवं विश्वमैत्री की अभयवाणी और दूसरे ने राजनीतिक संग्राम के माध्यम से प्रेम एवं अहिंसा की वीरत्वव्यञ्जक अमोघवाणी का जयघोष किया। देश के कोटि-कोटि मनुष्य पराधीनता को अपने जीवन में सत्य समझकर अभिशप्त जीवन व्यतीत करें और अन्यायकारी के प्रति मनमें शत्रुता का भाव पोषण करते हुए भी उसके प्रचण्ड पशुबल के भय से भीत होकर अपने को विवश समझें और उसके प्रतीकार के लिए कोई उपाय न करें यह एक ऐसी बात थी जो सत्यद्रष्टा ऋषि की दृष्टि में सबसे बड़ी मिथ्या थी। इसी तरह कोटि-कोटि मनुष्यों की दुःखदुर्दशा, उनके दीर्घश्वास एवं आर्त्तनाद, चीत्कार एवं क्रन्दन को सुनकर नवनीत के समान उस सन्त का हृदय संताप की आंच से द्रवित हुए विना नहीं रहा। पराधीनता नहीं स्वाधीनता, बन्धन नहीं मुक्ति जीवन का सत्य है इसलिये सत्य की प्रतिष्ठा के लिये साधक को संग्राम करना ही पड़ेगा। इस सत्य की प्रतिष्ठा में ही धर्म की प्रतिष्ठा है। सन्त और वैष्णव अपने भजन और कीर्त्तन के आनन्द को लेकर, व्यष्टि के सुख और शान्ति को लेकर सन्तुष्ट नहीं रह सकते। समष्टि के कल्याण के लिये, उसके दुःखनिवारण और सुखशान्ति के लिये, उसके निराश एवं निरानन्द-पूर्ण हृदयों में आशा एवं आनन्द की नूतन ज्योति जागरित करने के लिये उन्हें मन्दिर की एकान्त साधना से विमुख होकर स्वातंत्र्य-संग्राम के योद्धाओं के बीच अपना स्थान ग्रहण करना ही होगा। और यह इसलिए कि राजनीति में भी सत्यधर्म की प्रतिष्ठा करनी होगी। उन्हीं के शब्दों में—"I am trying to introduce religion into politics." मैं राजनीति में धर्म का समावेश करने की चेष्टा कर रहा हूँ। कोटि-कोटि मनुष्यों की मुक्ति जिस दिन उनके जीवन में सत्य रूप में प्रतिभात होने लगी उस दिन ही उनके जीवन में व्यष्टि और समष्टि का सारा भेद मिट गया और वह अपनी जाति की आशा-आकांक्षाओं की प्रतिमूर्त्ति बन गये। रोम्यां रोल्यां के शब्दों में—"He incarnates the spirit of his people.

गांधीजी के जीवनदर्शन के पीछे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की एक अखण्ड परम्परा काम कर रही थी। इसलिये इस परम्परा के आधार पर अपने जीवनादर्श को ढालने में उनके सामने कोई द्विधा या द्वन्द्व उपस्थित नहीं हुआ। भारतीय संस्कृति के मूलसूत्र को अपने जीवन के आरम्भ में ही ग्रहण करके उन्होंने उसे व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की। आदर्श की यह साधना विना किसी विराम या विश्राम के आजीवन चलती रही। भारतीय सभ्यता, भारतीय संस्कृति,

भारतीय धर्म और भारतीय ज्ञान के मूल में, उसकी आत्मा में उन्हें अहिंसा का एक-एक अक्षर अमिट रूप में अंकित दिखायी पड़ा। इसलिये अहिंसा सहज ही उनके जीवन का धर्म और उस धर्म की साधना बन गयी। इस अहिंसा ने उन्हें मृत्युञ्जयी वीर बना दिया और उनके हाथ में एक ऐसा अमोघ अस्त्र दे दिया जिसके सामने प्रचण्ड से प्रचण्ड शस्त्रबल को भी वह नगण्य समझने लगे थे। यह अहिंसा उनके लिये कायरों एवं दुर्बलों का नहीं बल्कि वीरों एवं शक्तिवानों का अस्त्र थी। इस अहिंसा ने ही उनकी राजनीति को सब प्रकार के छलछद्म और कूटनीति से मुक्त करके शिशु की तरह सहज एवं सरल बना दिया था। इसके पीछे साधक का जो आत्मप्रत्यय कामकर रहा था वह उसे सिंह की तरह निर्भीक और चट्टान की तरह अपने संकल्प पर सुदृढ़ बना दिया था। अपने इस अमोघ अस्त्र के बलपर ही उन्होंने अपने पशुबल-संत्रस्त, आत्मविस्मृत तथा आत्मविश्वासहीन देशवासियों को अत्याचारियों की प्रचण्ड शक्ति का सामना करने और आत्मबल द्वारा उनके अस्त्र-शस्त्रों की धार को कुण्ठित कर देने के लिये आह्वान किया। अत्याचारियों के साथ असहयोग करके, उनके अत्याचारों का शान्त एवं अहिंसभाव से प्रतीकार तथा उनके आदेशों की भद्र अवज्ञा करके उनकी शक्ति एवं प्रभुत्व को पंगु बना देना होगा। अहिंसा का यह कौशल Straltegy इतना सहज, इतना सरल और साथ ही इतना प्रभावोत्पादक था कि विरोधी पक्ष का मनोबल Morale अक्षुण्ण रह ही नहीं सकता था। विरोधी पक्ष के मनोबल को क्षीण करके उसे हतबुद्धि कर देनेवाली यह रणनीति ही अहिंसा संग्राम की अभिनव विशेषता थी जिसका प्रयोग गांधीजी ने भारतवर्ष के राजनीतिक जीवन में सफलतापूर्वक किया था।

रोम्याँ रोल्याँ को अपने सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग करने का कोई सुयोग गांधीजी को तरह नहीं मिला। प्रत्यक्ष रूप से उन्होंने किसी राजनीतिक संग्राम में भाग नहीं लिया था और न किसी जन-आन्दोलन के परिचालन का भार उनके ऊपर था। उनके जीवन-दर्शन के पीछे पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की वैसी कोई परम्परा भी नहीं थी जिसके आधार पर वह सहज ही अपने जीवन-दर्शन को निर्धारित कर पाते। यही कारण है कि उनके जीवन में हम आदर्शों का संघात पाते हैं और इस संघात के बीच से होकर ही उनका क्रमविकास होता है। अपने चतुर्दिक के वातावरण में व्यक्ति की निष्ठुर लोभ-लालसा एवं भोगपरायणता, धनतांत्रिक समाज का शोषण तथा उत्पाड़न, साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों एवं समरवादियों के कुचक्रों के कारण जाति-जाति और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच घृणा, द्वेष एवं प्रतिद्वन्द्विता का निर्लज्ज प्रचार तथा राष्ट्रीयता और देश-प्रेम के नाम पर युद्ध एवं मानव-विद्वेष को उत्तेजन देना—इन सब से रोम्याँ रोल्याँ की सन्तप्त आत्मा

को चैन नहीं मिलता था। वह एक ऐसे व्यक्ति की खोज में थे जिसमें उन्हें पूर्व और पश्चिम के परस्पर विरोधी आदर्शों का समन्वय तथा जीवन की पहेली का उत्तर मिले। इसके लिए वह अन्वेषणपथ के यात्री बने। उनकी यह तीर्थयात्रा पश्चिम के महान कलाकारों और विचारकों से आरम्भ होकर पूर्व के सन्त, महात्मा और कर्मयोगी के चरणों में श्रद्धांजलियां समर्पित करके समाप्त हुई। उनके जीवन की इस साधना का विकास टालसटाय, विटोफेन और माइकेल एञ्जलो से आरम्भ होकर गांधी, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द में समाप्त हुआ। आरम्भ में वह यूरोप के इन तीन महान् कलाकारों की श्रेष्ठ प्रतिभा से आकर्पित हुए। फिर भी उनकी उत्पीड़ित आत्मा को शान्ति नहीं मिली। टालसटाय के प्रति उनके हृदय में असीम श्रद्धा थी, किन्तु इस श्रद्धा ने ही बाद में चलकर पश्चिम के सम्बन्ध में उनके मोह को भंग कर दिया। मोहभंग होने पर उन्होंने लिखा—"मैं यह कहे विना नहीं रह सकता कि टालसटाय एक अच्छे पथप्रदर्शक नहीं कहे जा सकते। उनकी व्यथित प्रतिभा बराबर अपने लिए कोई व्यावहारिक मार्ग ढूंढ़ निकालने में असमर्थ रही।" इसके एक साल बाद जब महात्मा गांधी के सम्बन्ध में उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई उन्होंने लिखा—Everything in Gandhi is natural, simple, modest and pure. Whereas in Tolstoy, pride fights against pride, anger against anger, everything is violent, not excepting even non-violence." गांधी में सब कुछ स्वाभाविक, सरल, विनीत और विशुद्ध जान पड़ता है, जब कि टालसटाय में अहंकार, अहंकार के विरुद्ध, क्रोध, क्रोध के विरुद्ध संग्राम करता है, और उनमें सब कुछ प्रचण्ड जान पड़ता है—यहाँ तक कि उनकी अहिंसा भी।" ज्यों-ज्यों पूर्व के साथ उनका परिचय घनिष्ठ से घनिष्ठतर होता गया त्यों-त्यों उनके समक्ष यह सत्य प्रतिभासित होने लगा कि पूर्व और पश्चिम के जीवन के प्रति दो विपरीत मनोभावों में से उन्हें एक को चुन लेना है। प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १९१८ में उन्होंने लिखा था—"राष्ट्रों के इस युद्ध के बीच से दो प्रचण्ड शक्तियों का उदय होगा। ये दो महाशक्तियाँ होंगी—अमेरिका और एशिया एक दूसरे का सामना करती हुई। यूरोप इन दोनों महाशक्तियों में से किसी एक के द्वारा ग्रसित हो जायगा। मैं कोई भविष्यवक्ता नहीं हूँ और कोई यह नहीं कह सकता कि इनमें कौन-सी विचारधारा यूरोप को ग्रसित कर लेगी। किन्तु मेरा यह विश्वास है कि मानवता की मुक्ति, उसकी भावी एकता की आशा एशिया पर ही केन्द्रित है।" महात्मा गांधी के "यंग इंडिया" के फरासीसी अनुवाद की भूमिका में उन्होंने लिखा था—"पूर्व से जो यह

आध्यात्मिक ज्वार उठी है, उसकी गति तब तक रुक नहीं सकती जब तक कि वह यूरोप के उपकूलों को आच्छादित न कर ले।" पाश्चात्य सभ्यता के प्रति उनकी विरक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वह पूर्व से प्रकाश पाने की आशा करने लगे थे। उन्होंने लिखा था—"यूरोप में हमलोग कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो यूरोप की सभ्यता से सन्तुष्ट नहीं हैं। हम में कुछ ऐसे हैं जो एशिया की ओर दृष्टि लगाये हुए हैं। मैं यह नहीं कहता कि यूरोप के लोग एशिया के धर्मविश्वास को ग्रहण करें। मैं केवल यही चाहता हूँ कि वे जीवन के उस जादू भरे हुए सुरके आनन्दों का आस्वादन करें। वे एशिया से उन बातों को सीखेंगे जिनकी यूरोप और अमेरिका को विशेष आवश्यकता है—शान्ति, धैर्य, बलवती आशा और निर्मल आनन्द।" पश्चिम के कलाकार और पूर्व के धार्मिक नेता इन दोनों से प्रकाश पानें की आशा वह करते रहे। दोनों के प्रति आकर्षण ने उनके मन में जिस द्वन्द्व की सृष्टि कर दी थी उसका अवसान हुआ अन्ततः भारतीय सन्त गांधी के जीवन में। साहित्य, संगीत और चित्रकला जो कार्य नहीं कर सकी वह धर्मविश्वास द्वारा संपन्न हुआ।

महात्मा गांधी के सम्बन्ध में रोम्याँ रोलाँ ने अपनी पुस्तक "महात्मा गांधी" में लिखा है—"If there is such a thing as genius, great by its own strength whether or not it corresponds to the ideals of its surroundings, there can be no genius of action–no leader who does not incarnate the instinets of his race, satisfy the need of the hour, and requite the yearning of the world." अर्थात् यदि प्रतिभा जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व हो सकता है, जो अपनी शक्ति से ही महान् है, चाहे अपने चतुर्दिक के आवेष्टन के आदर्शों के साथ उसका मेल हो या नहीं तो गांधी से बढ़कर प्रतिभाशाली कर्मवीर और नेता कोई दूसरा नहीं हो सकता। अपनी जाति की आत्मा की प्रतिमूर्ति बनकर वह समय की आवश्यकता की पूर्ति तथा संसार की आकांक्षा का प्रतिशोध करते हैं।" गांधीजी के अहिंसा-धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"दो हजार वर्ष से अधिक से उनका अहिंसा का सिद्धान्त भारत की आत्मा के ऊपर अंकित है। महावीर, बुद्ध और वैष्णव धर्म ने अहिंसा को कोटि-कोटि आत्माओं का सारतत्व बना दिया था। गांधी ने केवल इसमें नया रक्त डालकर इसे सजीव बना दिया है। उन्होंने महान् छायामूर्तिओं का, अतीत की शक्तियों का, वे शक्तियाँ जो सांघातिक जडता से अभिभूत थीं, आह्वान किया और उनकी वाणी को सुनकर वे जीवित हो उठीं। गांधी केवल कहते ही नहीं, वह अपने कथन का दृष्टान्त भी बन जाते हैं।

अपनी जाति की आत्मा की वह प्रतिमूर्त्ति हैं। धन्य है वह मनुष्य जो अपनी जाति को इस प्रकार प्रतिमूर्त्ति बनता है और उसकी मृतप्राय जाति एक बार फिर उसका आत्मा में सजीव हो उठती है। यदि आज भारत की आत्मा उसके मन्दिरों और तपोवनों से निकल-निकलकर सारे देश में परिव्याप्त हो रही है तो इसका कारण यह है कि उसके पास वह संदेश है जिसको सुनने के लिए संसार व्याकुल हो रहा है।" महावीर, बुद्ध, और चैतन्य देव ने जिस अहिंसा धर्म का प्रचार किया था वह भवदुःखतापदग्ध व्यक्ति की मुक्ति के लिए साधना का विषय था। संसार के मायामोह से मुक्त होने के लिए प्राणीमात्र से प्रेम, मन, कर्म और वाणी से हिंसा का संपूर्ण त्याग। यह सब व्यक्ति के लिए ही साध्य था, समष्टि के लिए नहीं। किन्तु गांधीजी ने एक विशाल देश की कोटि-कोटि जनता की राजनीतिक मुक्ति के लिये व्यक्ति-साधना के इस पुराणपुरातन पथ का निर्देश किया। यह उनकी मौलिक प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता था। उनका यह अहिंसा शान्तिवादियों की निष्क्रियता नहीं थी। यह अहिंसा, अनीति और अन्याय, दुराचार एवं पाप के प्रति निष्क्रिय बनकर उनसे तटस्थ रहने का उपदेश नहीं देती। गांधीजी का विश्वास था कि यह अहिंसा सबसे बढ़कर सकर्मक शक्ति है, और यह शक्तिमानों का अमोघ अस्त्र है। कायर और भीरु इस अस्त्र को ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हो सकते। तभी तो रोम्याँ रोल्याँ ने कहा है कि Gandhi has merely transfused heroic blood into it." वह शक्ति जो साधुसन्तों और संसार-विरक्त महात्माओं की व्यक्तिगत साधना तक सीमित रहने के कारण एक प्रकार से पंगु बन चुकी थी उसे ही गांधीजी ने पुनरुज्जीवित करके क्षुरधार बना दिया।

वर्तमान जगत् का चित्रण रोम्याँ रोल्याँ ने इन ज्वलन्त शब्दों में किया है—"हिंसा की प्रचण्ड आँधी संसार के ऊपर से होकर बह रही है। हमारी सभ्यता की फसल को जो आँधी विध्वस्त कर रही है वह स्वच्छ निरभ्र आकाश से सहसा नहीं फूट पड़ी है। सदियों के, निष्ठुर जात्याभिमान का जिसकी धार को क्रान्ति के मतवाद की अन्धोपासना द्वारा बराबर तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर बनाने का प्रयत्न होता रहा, जिसका प्रचार गणतंत्र के अन्तःसारशून्य स्वांग के नाम पर होता रहा और जिसका अभिषेक एक शताब्दी के अमानुषीय शिल्पवाद द्वारा हुआ है, लोलुप धनिक-तंत्र और जड़वादी अर्थनीति जिसमें आत्मा का नाश हो जाता है, इन सब का अन्तिम परिणाम इन अन्धकारपूर्ण संग्रामों के रूप में होना निश्चित था जिनमें यूरोप की सारी निधियाँ नष्ट हो जातीं। अर्धशताब्दी पहले शक्ति का न्याय के ऊपर आधिपत्य था! आज शक्ति ही न्याय बन गयी है।

शक्ति ने न्याय को ग्रसित कर लिया है।" इस प्रकार के अन्धकारपूर्ण युग में जब कि दुनिया की नींव हिलने लगी है और कहीं आश्रय, आशा या प्रकाश नहीं रह गया है एकमात्र धर्मविश्वास ही मनुष्य के लिए साधन सम्बल हो सकता है। किन्तु इस धर्मविश्वास को कौन प्रमाणित करेगा ? और वर्तमान नास्तिक जगत में किस तरह यह प्रमाणित होगा ? कर्म द्वारा ही धर्मविश्वास को प्रमाणित किया जा सकता है।

यही धर्मविश्वास गांधीका विश्व के प्रति महान् संदेश है जिसे वह भारत का संदेश कहते हैं—आत्मत्याग का संदेश। गांधीजी के इस धर्मविश्वास से अनुप्राणित होकर रोल्याँ ने भी अहिंसा को धर्मविश्वास के रूप में ग्रहण किया था। हाँ, उनके लिये यह धर्मविश्वास ही बन गया था। इस धर्मविश्वास के कारण ही वह मानवधर्मी बने और अपनी इस मानवता की रक्षा के लिए उन्होंने स्वदेश-निर्वासन स्वीकार किया। उन्होंने लिखा है—

"Let them jeer ! I have this faith. I know it is scorned and persecuted in Europe, and that in my own land we are but a handful........And even if I were the only one to believe in it, what would it matter ? Faith is a battle. And our non-violence is the mostdesperate battle." लोग मेरा मखौल उड़ावें। मुझ में वह धर्मविश्वास है। मैं जानता हूँ कि यूरोप में इस धर्मविश्वास का उपहास किया जाता है और इसके धारण करनेवालों को निर्यातित किया जाता है, और मैं यह भी जानता हूँ कि मेरे अपने देश में इस प्रकार के धर्मविश्वास रखनेवाले मुट्ठी भर ही होंगे····किन्तु यदि मैं अकेला भी होऊँ तो इससे क्या ? धर्मविश्वास एक संग्राम है। और हमारी यह अहिंसा एक अत्यन्त निर्भीक संग्राम है।" मन और हृदय की शक्ति में रोल्याँ को पहले से ही विश्वास था। पशुबल की अपेक्षा आत्मबल को वह विशेष मर्यादा प्रदान करते थे। किन्तु इस विश्वास का ज्वलन्त क्रियात्मक रूप जब उन्हें गांधीजी के सत्याग्रह संग्राम में देखने को मिला तब उन्हें ऐसा लगा कि अबतक वह जिस गुरु के सन्धान में थे वह गुरु उन्हें मिल गया। गांधीजी की जीवन-कहानी से उन्होंने एक नूतन प्रेरणा प्राप्त की। उन्ही के शब्दों में—"मेरे मन के सुदूर क्षितिज में गांधी शुक्रतारा का उदय हुआ। उस उज्ज्वल तारा के आलोक को यूरोप के ऊपर प्रतिफलित करने का भार मैंने ग्रहण किया।" गांधीजी की तरह रोम्याँ रोल्याँ भी पूर्ण आशावादी थे। यूरोप विध्वंस की ताण्डवलीला में उन्मत्त होकर उनकी शान्तिवाणी को नहीं सुन रहा है इससे

क्षण भर के लिए उन्हें निराशा भले ही हुई हो मगर हृदय के अंदर आशा की जो स्निग्धोज्ज्वल दीपशिखा जल रही थी, वह निर्वापित कभी नहीं हुई। यूरोप के ज्योतिर्मय भविष्य की उन्होंने अपने मन में जो कल्पना कर रखी थी, वह कल्पना एक दिन वास्तव होकर रहेगी, ऐसा उन्हें विश्वास था और इसके लिए केवल यूरोप को ही नहीं, सारी मानव जाति को एक नया पथ-प्रदर्शन गांधीजी की आत्मा से मिलेगा, यह भविष्य-दर्शन भी उन्होंने अपने मानस-चक्षु से कर लिया था। उन्होंने लिखा है :—"One thing is certain ; either Gandhi's spirit will triumph, or it will manifest itself again, as were manifested, centuries before, the massiah and Budha, till there finally is manifested, in a mortal half-god, the perfect incarnation of the principle of life which will lead a new humanity on to a new path." अर्थात एक बात निश्चित है—या तो गान्धीजी की आत्मा विजयी होगी अथवा वह पुनः अवतार ग्रहण करेगी जैसा कि सदियों पहले मसीहा और बुद्ध के रूप में वह प्रकट हुई थी। इस प्रकार अन्ततः मानव के रूप में एक ऐसा देवकल्प पुरुष अवतीर्ण होगा, जो अपने में जीवन के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से मूर्तिमान करेगा और नूतन मानवता को एक नूतन पथ पर ले जायगा।"

o

अमर बापू! Amar Bapu

श्रीरमानाथ अवस्थी

दीन धरा को समझाता है रह रह कर आकाश
बापू जीवित हैं जब तक जीवित तेरा विश्वास
मृत्यु न मार सकेगी उनको रोओ नहीं स्वदेश
उनका जीवन बोल रहा है बन बन कर संदेश
गंगा-यमुना गातीं उनके जीवन का संगीत
ललचाया उनके दर्शन करने को स्वर्ग पुनीत

× × ×

आज अश्रु से अर्ध्य दे रही तुमको भारत-माता
जन जन भक्त तुम्हारा जय हो 'भारत-भाग्य-विधाता'

o

मिट्टी की ज्योति

श्री प्रभात एम० ए०

मिट्टी की ज्योति खिली नभ में,
मिट्टी की ज्योति खिली भूपर।

आँधियाँ उठीं, तूफान उठे,
झंझाओं ने ली अँगड़ाई;
विद्युत की लपटें कौंध गईं
मानों हो प्रलया मुस्काई;
छिपने को भागा भानु व्योम में,
तम फैला कालिख छाई;
उन्मत्त द्रोह के अधरों पर
विध्वंसक प्यास उमड़ आई;

बलिदान किसी ने माँगा था,
मिल गया न देर हुई क्षण-भर;
मिट्टी की ज्योति खिली नभ में
मिट्टी की ज्योति खिली भूपर।

बलिदान किसी ने माँगा था,
मानवता ने आह्वान सुना;
बन आग किसी का सुलग उठा
विद्रोह-भरा अभिमान, सुना
चल पड़ा अमृत की ओर धरा के
गौरव का अभियान, सुना
मुट्ठी-भर राख बची, उसमें
रह गया गूँजता गान, सुना

मानवता ने कुछ कहा नहीं,
लुट गया स्वर्ग स्वर का सुन्दर;
मिट्टी की ज्योति खिली नभ में,
मिट्टी की ज्योति खिली भूपर।

मानवता ने कुछ कहा नहीं,
वंचना नियति की बोल गई;
मिट्टी की काया को विनाश की
ज्वालाओं पर तोल गई;
अमरत्व अमृत ले खड़ा रहा
चुपचाप, मृत्यु विष घोल गई;
आकाश विकल हो उठा, सिंधु-जल
खौला, धरती डोल गई।

विद्रोह मांस का!—तत्त्व तीर-सा
चला छेद तम का अन्तर;
मिट्टी की ज्योति खिली नभ में,
मिट्टी की ज्योति खिली भूपर।

विद्रोह मांस का—तत्त्व तीर-सा
चला, तिमिर के पार हुआ;
अपनी ही आँखों में कितना
छोटा अनन्त संसार हुआ;
विद्रोह मांस का—तेज तेज में
मिला, नया शृंगार हुआ;
वह जय-यात्रा, पथ में विराट् का
गौरव वन्दनवार हुआ;

विद्रोह मांस का, विहँस उठा—
अमरत्व, लगा रोने नश्वर;
मिट्टी की ज्योति खिली नभ में
मिटी की ज्योति खिली भू पर।

विद्रोह मांस का—तूफानों में
रक्त-दीप वह जलता है;
मिट्टी का जीवन अमर हुआ,
आलोक-यान पर चलता है
वह अमर-लोक, अमरत्व जहाँ का
[illegible] में पलता है

कह रहा—'धन्य मिट्टी के जीवन की
अनन्त उज्ज्वलता है',

चिर शून्य स्वर्ग का उज्ज्वलता के
अमर गान से हुआ मुखर,
मिट्टी की ज्योति खिली नभ में
मिट्टी की ज्योति खिली भू पर।

चिर शून्य स्वर्ग का मुखर हुआ,
धरती की व्यथा पुकार बनी
मुट्ठी-भर राख विनश्वर के
उर का अविनश्वर प्यार बनी;
अम्बर तक फैली काल-रेख
स्मृति का असीम विस्तार बनी
मुट्ठी-भर राख कहीं गौरव,
अभिषेक कहीं, शृंगार बनी;

बन गया समय आरती-दीप
मानवता देवालय सुन्दर;
मिट्टी की ज्योति खिली नभ में
मिट्टी की ज्योति खिली भू पर

बन गया समय आरती-दीप
लौ में पलछिन साकार हुए,
वन्दन के स्वर में पंचतत्त्व
झंकृत-से सौ-सौ बार हुए;
मिट्टी के आँसू कोटि-कोटि
अकलंक किरण-संसार हुए;
वे मोती थे इस पार, किसी के
हृदय-हार उस पार हुए;

मानवता का गौरव अखंड
देवत्व खड़ा है जोड़े कर
मिट्टी की ज्योति खिली नभ में

मेरे संस्मरण

डा० भगवानदास

मेरी उम्र अस्सी साल की हो चुकी है। इसलिए हो सकता है कि मेरी स्मृति ठीक-ठीक मेरा साथ न दे रही हो। फिर भी जहाँ तक मुझे स्मरण है मैं ने पहले-पहले महात्मा जी को सन् १६१६ ई० के फरवरी महीने के प्रथम सप्ताह में देखा था, जबकि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज ने किया था। शिलान्यास का यह अनुष्ठान चार फरवरी को संपन्न हुआ था। तो क्या महात्मा-जी इस अवसर पर उपस्थित थे ? नहीं। कम से कम मुझे तो स्मरण नहीं होता कि मैंने उस बड़े जलसे में, जिसे लार्ड हार्डिंज ने एक छोटा-मोटा दिल्ली-दरबार बनाया था—उन्हें वहाँ देखा था। किन्तु इतना मुझे अवश्य स्मरण है कि उसी महीने की आठवीं तारीख को गाँधीजी वहाँ उपस्थित थे, जब कि उन से भयभीत हो कर बहुत से राजे-महाराजे और उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी वहाँ से भाग खड़े हुए थे। यह किस तरह हुआ ? बात यह थी कि मालवीय जी उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए धन-संग्रह में लगे हुए थे। उन्होंने एक सभा का आह्वान किया था। उस सभा में अलवर, नाभा, बीकानेर, धार तथा अन्य दो एक राज्यों के नृपति, दरभंगा के स्वर्गीय महाराजा रामेश्वर सिंह, बनारस डिवीजन के कमिश्नर और महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री तथा अन्यान्य विख्यात व्यक्ति उपस्थित थे। मालवीयजी ने एक एक कर के प्रत्येक विख्यात् वक्ता से बोलने और विश्वविद्यालय के लिए धनयाचना करने का अनुरोध किया। दुर्भाग्यवश उन्होंने गाँधी जी से भी बोलने के लिए कहा। गाँधी जी बोलने के लिए उठे और भाषण के प्रसंग में उन्होंने राजों, महाराजों, लखपती जमीं-दारों और उस समय की ब्रिटिश सरकार की तुलना बन्दरों के झुंड से की, जो गुजरात में फसल के पकने पर खेतों पर धावा बोल देते हैं और उन्हें भगाने के लिए ग्राम वासी किसान और उन के परिवार के सारे लोग—स्त्री, बच्चे, सब के सब—उन खेतों में दौड़ पड़ते हैं और किरासन तेल का कनस्तर तथा इसी तरह की और दूसरी चीजों को जोर-जोर से पीटने लगते हैं, ताकि बन्दर भाग जायँ। इसी तरह गाँधी जी और उनके सहकर्मी अन्यान्य देशभक्तों ने भी इन बन्दरों को भगाने के लिए ढोल पीटना शुरू किया है। यह सुनते ही उपस्थित राजों-महाराजों की मण्डली में भगदड़ मच गयी। मालवीय जी ने जोर से चिल्ला कर गाँधी जी से कहा—'आप क्या कर रहे हैं ?' जिस पर गाँधी जी ने उत्तर दिया 'मैंने क्या कहा है ? क्या मैं ने सत्य भाषण नहीं किया

हूँ ? क्या आप और आप के साथी दूसरे कांग्रेसी नेता यही बात, जरा अधिक नम्रता के साथ कहने की चेष्टा नहीं कर रहें है ?" यह सुन कर अंगरेज कमिश्नर, जो मेरे समीप ही बठा हुआ था, जोर से बड़बड़ाने लगा—'इस आदमी को इस तरह वाहियात बात बोलने से रोक देना चाहिये' और मालवीय जी उन राजों-महाराजों के पीछे दौड़े जो वहाँ से भगे जा रहे थे। आप जोर-जोर से चिल्लाकर उन्हें कह रहे थे "श्रीमान ! श्रीमान राजन्यवृन्द ! आप लोग कृपया लौट चलें ! हम लोगों ने उन्हें रोक दिया है !" इत्यादि। किन्तु वे बेचारे इतने आतंकित हो उठे थे कि उनमें से कोई भी नहीं लौटा। मालवीय जी दौड़ कर सच्चे देशभक्त और मेरे प्रिय बन्धु शिव प्रसाद गुप्त की गाड़ी के पास गये और गाड़ी के ड्राइवर को महाराजा बनारस की कोठी में गाड़ी ले चलने के लिए कहा जहाँ अलवर- नरेश ठहरे हुए थे। दुर्भाग्यवश वह मुझे भी घसीटकर अपने साथ लेते गये। यह मेरा सौभाग्य समझिये कि उन्होंने मुझे गाड़ी की पिछली सीट पर छोड़ दिया, वरना उस कड़ाके के जाड़े की रात में मैं ठिठुर कर मर जाता। शिव प्रसाद ने जो अपना गरम ओवरकोट भी वहीं गाड़ी में छोड़ दिया था, जिससे मालवीय जी ने उस रात की भीषण सर्दी से अपनी शरीर-रक्षा की। स्वयं शिव प्रसाद जी के लिए तो उनके स्थूल शरीर की चर्बी ही-जो उनके सारे शरीर पर समान रूप में फैली हुई थी और मोटी रजाई का काम कर रही थी-सर्दी से उनकी रक्षा कर रही थी। हाय ! बनारस आज उनकी प्रीतिकर उपस्थिति का अभाव कितना महसूस कर रहा है और सारा देश आज उनके मौलिक विचारों से वंचित हो गया है ! समाचारपत्र, सभा-समिति और अदालतों में हिन्दी को प्रधानता दिलाने के लिए सब से पहले उन्होंने ही उत्साह दिखाया था ; गांधी जी या नागरी प्रचारिणी सभाओं ने नहीं। काशी में जो भारत-माता का भव्यमन्दिर है; उसके उद्भावक भी वहीं थे। सन १९३६ के अक्टूबर में गांधी जी ने इस मन्दिर का उद्घाटन किया था। उस अवसर पर उनके साथ खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ, डा० विधान चन्द्र राय, पं० जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोतम दास टंडन तथा सब प्रान्तों के सभी सम्प्रदायों के स्त्री-पुरुष प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित थे।

इसके बाद फिर मैं कब महात्मा गांधी जी से मिला था ? सन् १९२० में ? नहीं......सन् १९१६ के दिसम्बर में कांग्रेस अधिवेशन के समय लखनऊ में। मैं वहाँ शिव प्रसाद गुप्त के साथ एक छोटे से खीमे में ठहरा हुआ था। मौसम बहुत खराब था। सुबह में ओस कण जमे हुए हिमकण के रूप में दिखायी पड़ते थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने-जिन्हें मैं ने पहली बार देखा था—भाषण किया था और लोकमान्य तिलक ने भी। उन्हें देखने का भी मेरे लिए यह पहला ही मौका था। कांग्रेस के इस अधिवेशन में ही एक अशुभ क्षण में हिन्दू और मुसलमानों के बीच व्यवस्थापिका-परिषदों

में स्थान-संरक्षण के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ, जो इन संस्थाओं से एक-एक कदम आगे बढ़ता हुआ देश को दो भागों में विभक्त कर देने की भयानक स्थिति पर पहुँच गया। मैं ने महात्मा जी को एक दिन सुबह मे अपने झोपड़े में देखा। बाहर से झाँक कर देखा वह सरकारी गजट पढ़ रहे थे। मैं तब तक चुप चाप बैठा रहा जब तक गजट के पन्ने उलटना उन्होंने बन्द नहीं किया। उस समय उनके साथ प्राइवेट सेक्रेटरी नहीं रहा करते थे। मैं बिना पूर्व सूचना दिये ही या यह कहते हुए कि 'क्या मैं आ सकता हूँ ?' अंगरेजी या हिंदी में यह मुझे याद नहीं, उस झोपड़े के द्वार से अंदर प्रवेश कर गया। उन्होंने बिना कुछ बोले ही सिर झुका कर अपनी अनुमति प्रकट की। उनकी आँखें अब भी गजट के पन्नों पर निबद्ध थीं। गजट पढ़ना बंद करके जब उन्होंने मेरी तरफ देखा, मैंने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और उसका उत्तर उन्होंने भी उसी रूप में दिया। तब मैंने पूछा—महात्मा जी ! कुछ समय पहले आपने एक गश्ती चिट्ठी जारी की थी, जिसमें आपने देश को सलाह दी थी कि वह ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग करे और खादी इत्यादि को अपनावे। आपकी यह सलाह 'आपत काल' के लिए या 'संपत काल' के लिए ? उन्होंने उत्तर दिया 'आपत काल !' मैंने कहा, 'अब मुझे कुछ अधिक पूछना नहीं हैं,' इसके बाद मैं नमस्कार करके वहाँ से चला आया। उसी दिन संध्या को मैंने अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में गाँधी जी को तथा सुरेन्द्रनाथ, लोकमान्य, मोतीलाल नेहरू, एना बेसेण्ट, लाजपत राय और कांग्रेस के प्रधान मंत्री तथा लखनऊ के वकीलों के नेता गोकर्ण नाथ मिश्र तथा अन्यान्य नेताओं को भी देखा। मैं बाहर से ही झाँक कर खीमे के भीतर की बैठक की कार्यवाही देख रहा था; क्योंकि मैं अ० भा० कां० कमेटी का सदस्य नहीं था। इसी समय पं०मोतीलाल नेहरू या गोकर्णनाथ मिश्र ने मुझे इस तरह झाँकते हुए देख लिया और मुसकरा कर मुझे अंदर आने का इशारा किया। मैं अन्दर चला आया और एक कोने में बैठ गया। उस समय मैंने महात्मा जी को बैठे हुए सदस्यों की पहली पंक्ति के पीछे खड़ा हुआ पाया। वह ठीक एक काठियावाड़ी की तरह पोशाक पहने हुए थ,......जो चन्द सालों के अन्दर ही बिलकुल बदल गयी, जिस तरह पिछले कुछ वर्षों में सभी चीजें बदल गयी हैं। उनकी उस समय की पोशाक थी चूड़ीदार पाजामा, प्राय: घुट्टियों तक लटकता हुआ बिना बटन का अंगा और खादी की बहुत बड़ी पगड़ी। एक क्षण तक मैं उन्हें पहचान नहीं सका, क्योंकि सुबह में मैंने उन्हें नंगे सिर, जिस पर लंबी शिखा फहरा रही थी और जिसका उन्होंने बाद में चलकर परित्याग कर दिया, सफेद खादी का कुर्ता और उस भीषण सर्दी में भी एक चादर ओढ़े हुए देखा था। ठीक उसी समय दो ताल्लुकेदार खूब तड़क भड़क की पोशाक में वहाँ पहुँचे और गांधी जी को एक तरह से धक्का देते हुए आगे बढ़े। उनमें एक ने

कहा: "म्याँ, यह कौन देहाती गँवार यहाँ आ गया है। दूसरे ने चुपके से उसके कान में कहा 'अरे ! महात्मा गांधी।' इस पर पहले व्यक्ति हक्कावक्का होकर गांधीजी को देखने लगा और दोनों चुपके से एक दूसरे कोने में खिसक गये। मैंने ऊपर कहा है। एनी बेसेन्ट भी वहाँ उपस्थित थीं। उस साल थियोसफिकल सोसाइटी की सालाना बैठक लखनऊ में ही हुई थी। घटनाओं की दौड़ में वर्त्तमान पीढ़ी इस बात को भूल जाती है कि गांधी जी ने नहीं, एनी बेसेन्ट ने भारतवर्ष को पहले-पहल 'निष्क्रियप्रतिरोध और कानून की भद्र अवज्ञा' की शिक्षा दी थी। उन्होंने होमरूल (स्वराज) आन्दोलन चलाया था, जिसके लिए उदार ब्रिटिश भारतीय सरकार से उन्हें नजरबंदी का पुरस्कार मिला था। उनके साथ और दो व्यक्ति नजर बंद हुए थे। श्रीमती बेसेण्ट जिस बंगले में नजरबंद थीं, उसके ऊपर तीनों ने होमरूल का झंडा फहराया था। पुलिस ने जितनी हा बार उस झंडे को नीचे उतार दिया, उतनीही बार इन लोगों ने फिर उसे फहराया। तीन महीने के बाद वे तीनों व्यक्ति छोड़ दिये गये। सरकार के इस कार्य का प्रतिवाद करने के लिए जो बड़ी सभा बनारस के टाउन हाल में हुई थी, उसका सभापतित्व मैं ने ही किया था। इस उदेश्य से की गयी देश में यह पहली सभा थी। इसके बाद तो सारे देश में इस तरह की सभाओं की बाढ़ सी आ गयी।

इसके बाद सन् १९२० के नवम्बर में बनारस में मैंने महात्मा जी को देखा था। सन् १९१९ की १३ वीं अप्रैल को अमृतसर में जो जलियानवाला हत्याकांड हुआ था, उसके बाद अ० भा० कांग्रेस कमेटी की एक बैठक बुलायीं गयीं थी। इस बैठक में कांग्रेस के परिवर्त्तित उद्देश्य 'पूर्ण स्वराज्य' और असहयोग के कार्य्यक्रम पर विचार करना था। यह बैठक १९२० के फरवरी में हुई थी, मुझे ठीक याद नहीं है। इस बैठक मे लोकमान्य तिलक तथा कांग्रेस के अन्यान्य प्रमुख नेता उपस्थित थे। अ० भा० कां० कमेटी का सदस्य न होने पर भी मुझे उस बैठक में शामिल होने की अनुमति मिल गयी थी। लाला लाजपत राय भी उपस्थित थे। उन्होंने अपने नागपुर वाले भाषण को संक्षेप में, किन्तु प्रभावशाली ढंग से दुहराया। इस सभा में नागपुर कांग्रेस के प्रस्तावों की स्वीकृति मिली जहाँ मैं ठहरा हुआ था, उसके पास ही एक उद्यान-गृह में लोकमान्य ठहरे हुए थे। मैं उनसे एकदिन सबेरे मिला। वह सहन पर बिछी हुई एक दरी पर बैठे हुए थे। मैं यथोचिम अभिवादन के बाद उनके सामने बैठ गया। वार्तालाप के प्रसंग में भारतीय दर्शन का विषय छिड़ गया। यद्यपि यह मेरे विशेष अध्ययन का विषय था और उनका प्रिय विषय था वैदिक गवेषणा, गणित और ज्योतिष्। फिर भी उन्होंने भारतीय दर्शन के विषय में कुछ ऐसी बातें बतायीं, जो मेरे लिए बिलकुल नयी थीं। फिर उनके विलक्षण ग्रन्थ "गीता रहस्य" के सम्बन्ध में चर्चा चल पड़ी। इस ग्रन्थ का प्रणयन उन्होंने अपने कारावास-जीवन के आठ वर्ष की

कठोर तपस्या के फलस्वरूप किया था। मैंने लोकमान्य से पूछा-क्या आप पहले कभी बनारस आये थे? 'हाँ, बहुत दिन पहले—उन्होंने उत्तर दिया। उस समय में एक नवयुवक था और गंगा को तैरकर आरपार कर जाता था। उन दिनों मैं एक हट्टा-कट्टा नवयुवक था और बहुत से भारतीय खेल कूदों और कसरतों में उस्ताद था।

उसी दिन संध्या को टाउन हॉल के मैदान में एक बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा हुई थी, जिसमें सभापति का आसन मैंने ग्रहण किया था। लोकमान्य के सम्मानार्थ यह सभा बुलायी गयी थी। इस सभा में लोकमान्य के मित्र और सहकर्मी प्रसन्नमूर्ति खापर्डे, नरसिंह राव केलकर, करन्दीकर तथा और लोग भी उपस्थित थे। सभा के प्रधान वक्ता लोकमान्य थे। अपने भाषण में उन्होंने सहयोग प्रतिसहयोग 'Responsive Co-operation और असहयोग-प्रति असहयोग नीति की व्याख्या की और देश के लिए इसे ही समुचित नीति और कार्य्यक्रम बताया। मैं भी इसी नीति का बराबर से कायल रहा हूँ। दूसरे दिन संध्या को जब मैंने श्रीमती बेसेण्ट से लोकमान्य के भाषण की चर्चा की और लोकमान्य ने भाषण के प्रसंग में महाभारत के जिन प्राचीन श्लोकों को उद्धृत किया था, उनका जिक्र किया, तो श्रीमती बेसेण्ट ने अपनी आपत्ति प्रकट की। वे श्लोक यों हैं:—

"शठं प्रति शठं कुर्यात्, सादरं प्रति सादरम्।
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः, मायाचारो मायया वाञ्छनीयः।"

अर्थात् "जो तुम्हारे साथ जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा व्यवहार करो। जो अच्छा व्यवहार करे उसके साथ अच्छा और बुरे के साथ बुरा व्यवहार करो। लाभदायक कार्य्यों में सरकार के साथ सहयोग करो और अनिष्टकर कार्य्यों में असहयोग। जो कुछ अच्छा मिले उसे ग्रहण कर लो और अधिक के लिए संग्राम करो।" ऊपर के श्लोक में गांधीजी दूसरे 'शठं' के स्थान पर 'हठं' रखना चाहते थे। अर्थात् सत्याग्रह; 'शठं' नहीं, जो सदा फलदायक नहीं होता और यदि होता भी है, तो स्थायी रूप में नहीं। जब मैंने श्रीमती बेसेण्ट से लोकमान्य तिलक की नीति का जिक्र किया, तब उन्होंने कहा "किन्तु यह बहुत अनुचित है; वह लोगों को सशस्त्र विद्रोह के लिए उत्तेजित कर रहे हैं; या कम से कम वह बहुत ही कर्कश रूप में स्पष्टवादी हैं।" मैंने उत्तर दिया "लोकमान्य नहीं, बल्कि सरकार ही लोगों को अपनी नीति के कारण शस्त्र ग्रहण करने के लियें मजबूर कर रही है। तिलक की कर्कश स्पष्टवादिता यही है कि वह अँगरेज राजनीतिज्ञों की तरह कूटनीतिज्ञ नहीं हैं। वे गुप्त रूप से वही काम करते हैं, जिसे करने की सलाह लोकमान्य स्पष्ट रूप में देते हैं। जब सरकार अपनी दुरंगी नीति—एकओर शासन-सुधार और दूसरी ओर दमन की घोषणा करती है, तब लोकमान्य भी जनता को सरकार के प्रति एक ओर 'आनुगत्य और

सहयोग' और दूसरी ओर 'विद्रोह और असहयोग' करने की स्पष्ट रूप से सलाह देते हैं।......" उन्होंने मेरी युक्ति की सारवत्ता को मान लिया और चुप रह गयीं।

इस के बाद सन् १९२० के नवम्बर में मैंने महात्मा जी को देखा था। वह अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के छात्रों को असहयोग करने के लिए कह रहे थे। मैं छात्रों के असहयोग करने के विरुद्ध था। छात्रों को राजनीति से पृथक रहने की भी मैंने सलाह दी थी। अलीगढ़ के प्रबन्धकों न गांधीजी से कहा कि पहले आप काशी विश्वविद्यालय के अपने सहधर्मियों को कालेज छोड़ने के लिए कहें। गांधीजी वहाँ से दौड़े हुए बनारस पहुँचे। मालवीय जी ने उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय के अहाते में या कालेज-भवन में सभा करने का अनुमति नहीं दी। इससे पहले उन्होंने अ० भा०, कांग्रेस कमेटी के सदस्यों को कालेज-भवन में रहने देना भी अस्वीकार कर दिया था। हिन्दू कालेज के खेलने के मैदान से सटी हुई जमीन पर छात्रों की एक सभा हुई। उस सभा में कालेज के प्रायः सभी छात्र और कई सौ नागरिक उपस्थित थे। मैं सभा-मंच के एक कोने में प० मोती लाल नेहरू, अबुल कलाम आजाद तथा अन्य नेताओं के पीछे बैठा था। गांधीजी के भाषण का सारांश इस प्रकार था; "कोई यह न सोचे कि मैं जान बूझकर आपलोगों को बुरे मार्ग पर बहका रहा हूँ। मैं चार पुत्रों का पिता हूँ, और यह जानता हूँ कि पुत्र के प्रति पिता के क्या कर्त्तव्य हैं और आपलोग मेरे लिए पुत्र के समान हैं। "इसी समय इङ्गलैंड के राजकुमार एडवर्ड (इस समय ड्यूक ऑफ विंडसर) को हिन्दू विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि प्रदान की जानेवाली थी। आचार्य कृपलानी ने प्रायः ३० छात्रों के साथ कालेज से असहयोग किया था। बनारस की जनता को राजकुमार एडवर्ड का बहिष्कार करने का उपदेश देने के कारण मैं आचार्य कृपलानी तथा और लोगों के साथ जेल भेज दिया गया। मुझे एक साल की सजा मिली थी, किन्तु पाँच महीनों के बाद ही सन् १९२१ के जनवरी में मुझे जेल से बाहर कर दिया गया।

कैद की अवधि पूरी करने के लिए, मैंने अपने घर से अलग एक मकान भाड़े पर लेकर रहने का निश्चय किया। मेरे साथ असहयोग करनेवाले छात्र तथा चंद अध्यापक थे। वहीं फरवरी सन् १९२१ में काशी-विद्यापीठ का आरम्भ हुआ, जिसके लिए बाद में शिव प्रसाद गुप्त ने १० लाख की रकम दान करके एक ट्रस्ट बना दिया। नियमित रूप में विद्यापीठ का उद्घाटन गांधीजी ने मोतीलाल नेहरू, अबुल कलाम आदि नेताओं की उपस्थिति में किया। इस अवसर पर विशाल जनसमूह एकत्र हुआ था। नगर कोतवाल ने एक सार्वजनिक सभा में पहले-पहल एक व्यक्ति को गिरफ्तार किया। बड़ी कठिनाई से गांधी जी तथा अन्य नेताओं को मोटर गाड़ियों पर उनके वासस्थान तक पहुँचाया गया। उसी

दिन संध्या को एक बड़ी सभा हुई। इस बार भी बहुत विशाल भीड़ और पहले से भी ज्यादा शोरगुल। पन्द्रह मिनट के बाद जब शोरगुल कम हुआ, गांधीजी ने एक संक्षिप्त भाषण किया और फिर जल्दी से सभास्थान से प्रस्थान कर गये। मैं बतौर अंगरक्षक उनकी गाड़ी पर उनके पीछे बैठा हुआ था। गाड़ी बहुत ही मन्द गति से चल रही थी। लोग गांधीजी का जयजयकार तो कर ही रहे थे, किन्तु इतने से ही उन्हें संतोष नहीं होता था; इसलिए उनके शरीर का स्पर्श करने के लिए भी वे उतावले हो रहे थे और ऐसा करने में असमर्थ होने पर अपनी लंबी लाठियों को लिये हुए जब आगे की ओर बढ़ते थे, तब लाठियों के सिरे से गांधीं जी का और मेरा सिर फूटते-फूटते बचता था। यदि हाथ या पाँव से स्पर्श न हो सके, तो कम से कम लाठी के सिरे से भी होना चाहिये! ऐसा है हिन्दुओं का अन्ध-विश्वास और उनकी अनुशासन-हीनता! क्या कांग्रेस ने इन दोषों के परिहार के लिए कुछ किया है? खेद के साथ कहना पड़ता है कि यदि कुछ किया भी है तो बहुत कम।

फिर १९२१ के जून में बम्बई में अ० भा० कां० कमिटी की बैठक में गांधी जी को देखा था। उस समय मैं बहैसियत सदस्य के बैठक में शामिल हुआ था। लोकमान्य उस समय परलोकवासी हो चुके थे। मैंने उन्हें नहीं, उनकी प्रस्तरमुर्ति को सरदार-गृह में देखा जहाँ शिव प्रसाद गुप्त के साथ ठहरा हुआ था। मुझे जहाँ तक खयाल है, इस सभा में मैंने पहले-पहल अली बन्धुओं को देखा था। शौकत अली ने, जो लम्बाई में ६फुट २ इंच और गोलाई में भी उतने ही थे, जलपान के समय कहा "ये सब अच्छी चीजें जहाँ तक बन पड़े हम लोग खा डालें; कौन जाने फिर कई वर्षों तक हमें ये चीजें खाने को मिलेंगी या नहीं।" आगे चल कर कराची में उन्हें लंबी कैद की जो सजा मिलने वाली थी, उसका आभास उन्हें पहले ही मिल चुका था।

तीसरे पहर चौपाटी पर समुद्र के किनारे एक विराट् सभा हुई। देशबन्धु दास, मोतीलाल नेहरू, जयकर तथा अन्य नेताओं के संक्षिप्त भाषण हुए। गाँधी जी भी कुछ मिनटों तक बोले। उनका भाषण बराबर संक्षेप में और विषयानुकूल होता था। एक भी फाजिल शब्द नहीं और न शब्दाडम्बर पूर्ण या आलंकारिक भाषा में। विषय को स्पष्ट करने के लिए जितने शब्दों की आवश्यकता होती, ठीक उतने ही शब्दों का प्रयोग करते थे। विदेशी और स्वदेशी मिलों के बने हुए कपड़े की होली जलाने का निश्चय किया गया। किन्तु जलाने के लिए स्वदेशी कपड़ा लोग बहुत कम लाये थे और मेरे खयाल से यह ठीक ही किया था। दूसरे दिन गांधी जी से मैं उनके वासस्थान पर मिला। अ० भा० कांग्रेस कमिटी के बहुत से सदस्य

भी वहाँ उपस्थित थे। मैंने पूछा। "महात्माजी, औपनिवेशिक स्वराज्य का तो कुछ माने भी है। किन्तु 'स्वराज' शब्द का तो कोई अर्थ ही नहीं है या प्रत्येक व्यक्ति चाहे जैसा इसका अर्थ लगा ले सकता है। हिन्दू समझते हैं 'हिन्दू राज, मुसलमान समझते हैं मुसलमान राज, जमींदार जमींदार राज, पूँजीपति पूँजीवादी राज, मजदूर मजदूर राजा और इसी तरह दूसरे लोग भी और इन सब का अर्थ है एकता के बदले में, जिसका आप उपदेश करते हैं, भयंकर वर्गयुद्ध और गृहयुद्ध।" उन्हों ने कहा : यदि आप से कोई पूछे कि स्वराज का माने क्या है तो आप उसे कहिये-रामराज्य।" मैंने इस पर कहा—"किन्तु यह तो कम कठिन की व्याख्या और भी कठिन से करना होगा और यदि आप यह समझते हैं कि रामजी के राज में सब लोग सुखी थे और कोई गरीब नहीं था, तो यह एक बहुत बड़ी भूल है। प्रमाणस्वरूप मैंने वाल्मीकि रामायण के कुछ दृष्टान्त भी उद्धृत किये। इसके बाद वह दूसरे सदस्यों की तरफ मुखातिब हुए और मैं वहा से चला आया।

फिर मैंने सन् १९२८ के नवम्बर में उन्हें देखा था। वह, कस्तूर बा, महादेव देसाई, मीरा बेन तथा अपने दल के दूसरे साथियों के साथ मेरे तथा मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्रीप्रकाश के अतिथि थे और मेरे पुराने मकान 'सेवाश्रम' में ठहरे थे। गांधी जी के लिए भोजन का प्रबन्ध अलग किया गया था। उनका भोजन बहुत ही सादा और निश्चित समय पर होता था। किन्तु कस्तूरबा और दूसरे लोग जो गांधीजी की उपस्थिति में चाय या काफी ग्रहण करने का साहस नहीं कर सकते थे, दूसरे कमरे में भोजन करते थे और वहीं इन पेय पदार्थों का समय-समय पर उपभोग करते थे। बनारस से गांधीजी मेरे आमंत्रण पर सदलबल चुनार गये। वहाँ एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमे गांधीजी को सात सौ रुपये की एक थैली भेंट की गयी। उस समय मैं चुनार में ही एकान्त वास कर रहा था। वहाँ मैंने पहले से ही गांधीजी के लिए एक बकरी का प्रबन्ध कर रखा था।

सन् १९२९ के बाद मैंने फिर उन्हें सन् १९३४ में देखा था। उस समय बनारस तथा अन्य नगरों में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। गांधी-इर्विन-समझौते की हाल ही में घोषणा की गयी थी और गांधीजी ने पटने की एक कांग्रेस-मीटिंग में सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द करने का आदेश दिया था। इसके कुछ समय बाद ही अ० भा० कांग्रेस कमिटी की एक बैठक बनारस में बुलायी गयी। कमिटी के सभी सदस्य काशी विद्यापीठ के भवन में ठहरे थे। उदार शिवप्रसाद गुप्त के सब मेहमान थे। सिर्फ अबुल कलाम आजाद एक होटल में ठहरे थे। अली बन्धु कांग्रेस से अलग हो चुके थे, जिस तरह उनसे पहले मुस्लिम लीग के अध्यक्ष घोर अहंवादी मि० जिन्ना अलग हो चुके थे—वही जिन्ना, जिनका स्थान देश का अनिष्ट करनेवालों

में अग्रगण्य है और जो उन सभी भयंकर कृत्यों के जनक हैं, जिनके कारण यह सुखी देश दुर्गति को प्राप्त हो कर अन्त में दो खण्डों में विभक्त हो गया है। यह दूसरा अवसर था, जब कि मैंने सरदार वल्लभ भाई को देखा था। इस से पहले सन् १९२१ में लखनऊ में उन्हें देखने का मौका मिला था। सरदार सचिव की अपेक्षा प्रधान सेनापति होने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। जनता ने उन्हें सरदार की जो पदवी दी है, वह ठीक है। गांधी जी के प्रति अटल श्रद्धा-भक्ति हृदय में धारण करते हुए भी अहिंसा के सम्बन्ध में बराबर उनका गांधी जी से मत-भेद रहा। अबुल कलाम आजाद तो प्रत्यक्ष रूप में गांधी जी से इस विषय पर भिन्नमत रखते थे और साफ-साफ अपना मत प्रकट करते थे। कांग्रेस के अन्यान्य सदस्यों का व्यक्तिगत विश्वास भी ऐसा ही था, हालांकि वे अपने विश्वास को प्रकट नहीं करते थे। वे सब लोकमान्य तिलक की नीति में विश्वास करते थे जिसकी स्पष्ट घोषणा सब देशों के दण्ड-विधानों में और सभी देशों के पगम्बरों और अवतारों द्वारा की गयी है। आत्मरक्षा के लिए जो हिंसा की जाती है, वह 'हिंसा' नहीं 'दण्ड' है और हिंसा तथा दण्ड में बहुत भेद है। इसके बाद सन् १९३४ के कांग्रेस-अधिवेशन के पश्चात् गांधी जी ने इन्हीं सब कारणों से कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया।

सन् १९३४ के जून में काशीविद्यापीठ में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। इस साल आम की फसल बहुत अच्छी हुई थी। गांधी जी ने आम को लेकर भोजन के संबन्ध में अपना प्रयोग आरम्भ किया, किन्तु यह प्रयोग असफल रहा। संयोगवश गांधी जी को रात में दस्त आने लगे थे। मैंने दूसरे दिन प्रातः काल बनारस के सभी नामी डाक्टरों को एकत्र किया। वे सब बिना किसी फीस के ही गांधी जी की चिकित्सा करने के लिए समुत्सुक थे। डाक्टरों ने उनके शरीर की परीक्षा की और बताया कि चिन्ता का कोई कारण नहीं। उनके संयत जीवन के सामने रोग को परास्त होना पड़ा। डाक्टरों की उपस्थिति में ही मेरे मुँह से निकल पड़ा : "महात्माजी कुपथ्य करते हैं।" उन्होंने मेरे वाक्य का अर्थ ठीक तरह से न समझ कर कहा; "आप ऐसा कहते हैं!" मैंने उन्हें बताया; "साधारण कुपथ्य नहीं। आप आधी रात तक लोगों से मिलते रहते हैं और फिर इसके दो घंटे बाद ही अपने सेक्रेटरी की निद्रा की हत्या करके उन्हें चिट्ठियाँ लिखाने लग जाते हैं। यही कुपथ्य है, जिससे मेरा अभिप्राय था।" अब उनके खिन्न चेहरे पर मुसकराहट खेलने लगी और सब लोग फिर पहले की तरह प्रसन्न हो उठे।

उस दिन संध्याकाल में मैं ने प्रमुख कम्यूनिस्ट और सोशलिस्टों के एक प्रतिनिधिमण्डल से गांधी जी का परिचय कराया। इस प्रतिनिधिमण्डल में नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द तथा काशी विद्यापीठ के कुछ अध्यापक थे। मैंने महात्माजी से कहा

"इन में हमारे कुछ श्रेष्ठ कार्य्यकर्त्ता हैं: काशी विद्यापीठ के इनके छात्रों नें सभी प्रान्तों में रचनात्मक कार्य्य किये हैं, जेल और निर्यातन सहे हैं और देश को स्वराज के पथ पर अग्रसर करने में बहुत कुछ सहायता पहुँचायी है। आप इनकी बातों को सुनें और कांग्रेस नेताओं के साथ इनका जो मतभेद हो गया है, उसे स्पष्ट करने का इन्हें मौका दें :" सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट के बीच जो भेद है वह संकीर्ण होने पर भी महत्वपूर्ण है। स्टालिन के शब्दों में "कामके अनुसार मजदूरी" सोशलिज्म है और "जरूरत के मोताबिक मजदूरी" कम्यूनिज्म है। पहले सिद्धान्त की विजय हुई है और सोवियेट रुस में भी बराबर इसी सिद्धान्त की विजय होगी। एक घंटे से अधिक तक गांधी जी और उक्त प्रतिनिधिमण्डल के बीच शान्तिपूर्ण वार्तालाप चलता रहा। मैं बिलकुल मौन धारण किये हुए वहाँ बैठा रहा। मेरा खयाल है कि उस समय गलत फहमी बहुत कुछ दूर हो गयी थी; किन्तु दुर्भाग्यवश वह फिर पैदा हो गयी हैं। नरीमैन भी अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सदस्य की हैसियत से वहाँ आये हुए थे और सेवाश्रम में ठहरे थे। बाद में वह कांग्रेस से निकाल दिये गये जो अनुचित था। इसी तरह वह अद्‌भुत वीर योद्धा सुभाष चन्द्र वसु भी कांग्रेस से निकाल दिये गये, जिन्हें रामगढ़ कांग्रेस-अधिवेशन के एक दिन पूर्व सेवाश्रम में एक दिन के लिए अतिथि के रूप में प्राप्त करने का हमें विशेष सम्मान एवं सुविधा प्राप्त हुई थी।

फिर सन् १९३६ में मैंने गांधीजी, आजाद, गफ्फार खाँ और उनकी लड़की सोफिया, सरदार पटेल, डा० विधान चन्द्र राय, श्रीउमा नेहरू, जवाहरलाल, सरोजनी नायडू और दूसरे नेताओं को देखा था। यह वह अवसर था जब कि गांधीजी भारतमाता-मन्दिर का उद्‌घाटन करने काशी आये थे। मुझे स्मरण नहीं है कि बिड़ला-बन्धुओं में से कोई वहाँ उपस्थित थे या नहीं। बिड़ला-बन्धु गांधीजी के सभी अच्छे कामों में उनके प्रधान सहायक रहे हैं जिस तरह शिवप्रसाद मालवीयजी के थे। घनश्यामदास गांधीजी के साथ दूसरी गोलमेज परिषद में लंदन गये हुए थे। उन्होंने "मेरी डायरी के कुछ पन्ने" नाम से एक बहुत सुन्दर पुस्तक लिखी है। एक बार उन्होंने मेरे घर पर मुझ से कहा—मैं लोकमान्य की नीति में विश्वास करता हूँ, गांधी जी की नीति में नहीं। गांधीजी कहते हैं:—"मार खा के मरो"; मैं कहता हूँ "मारो और मरो",। तिलकजी ने अपनी :अविवेकपूर्ण स्पष्टवादिता के कारण बहुत से सुन्दर सुयोग खो दिये। प्रथम महायुद्ध छिड़ने पर उन्होंने आम तौर से महाराष्ट्रियों को अधिक से अधिक संख्या में अँगरेजी फौज में भरती होने के लिए कहा। इससे ब्रिटिश सरकार उनके गत जीवन के राजद्रोह को बिलकुल भूल गयी और प्रसन्नता के साथ उनकी इस घोषणा का स्वागत किया। किन्तु इसके कुछ समय बाद ही जब कुछ

मराठों ने लोकमान्य के इस कार्य पर आपत्ति की, तो उन्होंने आम तौर से यह घोषणा की—"एक बार के लिए भी मराठा युवक अपने हाथों में राईफल धारण करना सीख लें और तब हमलोग देख लेंगे।" इससे ब्रिटिश सरकार की आँखें खुल गयीं और मराठों में रंगरूट भरती करना बन्द कर दिया गया। दूसरे महायुद्ध में मराठा सैन्यदल ने अबीसीनिया की राजधानी अदिस अबाबा पर ब्रिटिश झंडा फहरा दिया और इटली की सेना को वहाँ से भगा दिया। इस दल के कितने ही सैनिकों ने अपनी वीरता के कारण 'विक्टोरिया क्रास' भी प्राप्त किये। किन्तु इन सैनिकों ने "शिवाजी महाराज की जय" के नारे लगाकर राजधानी पर अधिकार किया था,—"जार्ज महाराज की जय" के नारे लगाकर नहीं। इससे ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में उनकी वीरता की कद्र बहुत कम हो गयी और बड़ी मुश्किल से उनसे विक्टोरिया क्रास छीन लिये गये। यही बात गुर्खा सैनिकों के सम्बन्ध में भी थी। यूरोपियन युद्धशील राष्ट्रों की यह शिकायत थी कि यूरोपियन युद्ध में जंगली काले आदमियों को लाया जाता है। किन्तु वे इस बात को भूल जाते थे कि युद्ध के प्रथम सप्ताह में ही जर्मन सेना द्वारा पेरिस को विध्वस्त होने से बचाने में ७० हजार भारतीय सैनिकों का बहुत बड़ा हाथ था। पेरिस की रक्षा करने में ये भारतीय सैनिक सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गये। भूतपूर्व वायसराय हार्डिज ने पार्लमिण्ट में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया था कि "प्रथम महायुद्ध के अन्त में भारत में सिर्फ १४०० अँगरेज सैनिक थे और इन्हीं सैनिकों को हम देश के विभिन्न भागों में बराबर स्पेशल ट्रेनों द्वारा घुमाते रहते थे, ताकि लोगों में यह मिथ्या धारणा हो जाय कि अब भी भारत में इतनी काफी अंगरेज सेना है कि वह किसी भी जनविद्रोह को दबा दे सकती है।" भारत इस सत्य को अच्छी तरह जानता था, किन्तु फिर भी वह इसलिए शान्त रहा कि गांधाजी की तरह उसे अँगरेजों की नेकनीयती और उनकी न्यायशीलता में विश्वास था, हालांकि बाद में चलकर बार-बार उसके साथ विश्वासभंग किया गया।

मि० पोलक और उनकी पत्नी के सम्बन्ध में भी—जो दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह में गांधीजी के साथी थे—बहुत कुछ कहना बाकी है। ये दोनों सेवाश्रम में मेरे अतिथि थे। जब से सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना हुई, तब से लेकर अबतक सेवाश्रम में एक सप्ताह भी ऐसा नहीं बीता जब कि कोई न कोई विदेशी अतिथि वहाँ नहीं ठहरा हो।

किन्तु हाय ! गांधीजी अब हमारे बीच से सदा के लिए चल बसे, जैसा कि सबको एक दिन चला जाना पड़ेगा। किन्तु उनके उपदेश, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के उपदेशों की तरह रह गये हैं, जो भावी पीढ़ियों के जीवनान्धकार में आलोक प्रदान करते रहेंगे।

अब मेरा यह लेख बहुत लंबा हो चला है। इसे मैं यहीं समाप्त करता हूँ। हो सकता है कि इसमें तारीख और घटनाओं के सम्बन्ध में भी बहुत-सी भूलें रह गईं हों। इन त्रुटियों के लिए पाठक मुझे क्षमा कर देंगे और भूलें सुधार लेंगे। वे कृपया इस बात को स्मरण रखेंगे कि मेरी स्मृति अब बहुत पुरानी, ८० साल की हो चुकी है और अँगरेजी, संस्कृत तथा कुछ फारसी की किताबों को लगातार पढ़ते रहने से उसपर बहुत बड़ा बोझ पड़ा है। मैंने अपने इस अध्ययन का उपयोग अपनी सबसे प्रिय और बहु-प्रशंसित पुस्तक "सर्व धर्म-समन्वय" में किया है। इस पुस्तक की प्रशंसा भारत से बाहर थियोसफिकल सोसाइटी की शाखाओं द्वारा पचास देशों में यहाँ से भी अधिक हुई है।

पुनश्च—हाँ, एक घटना का जिक्र करना तो मैं भूल ही गया था। सन् १९३२ के नवम्बर में गांधीजी ने मुझे यरवदा जेल में बुलाया था। लगातार दस दिनों तक उनके साथ मेरा मिलना-जुलना होता रहा। उस समय हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश को लेकर पण्डितों के बीच जो शास्त्रार्थ चल रहा था, उसीमें सहायता देने के लिए उन्होंने मुझे बुलाया था। इसी तरह सन् १९३४ में बनारस में श्रीराजगोपाचार्य के साथ मेरी जो मुलाकातें हुई थीं, और सरदार पटेल के साथ भी और उनकी पुत्री मनीबेनका अचानक बीमार पड़ जाना और इसी प्रकार की दूसरी घटनायें भी हैं, जिनका उल्लेख ऊपर नहीं किया गया है। त्रुटि का कारण पहले ही बताया जा चुका है और यह कहानी भी अब लम्बी हो चली है। पाठक कृपया मुझे क्षमा करें।

o

अहिंसा के सामने वैर का त्याग होना ही चाहिये, यह महावाक्य है, यानी जहाँ वैर अपनी आखिरी हद तक पहुँच चुका हो, वहाँ इस्तेमाल की जाने वाली अहिंसा भी ऊँची से-ऊँची चोटी तक पहुँची हुई होनी चाहिये। आज का वातावरण इतना जहरीला बन गया है कि हम सयाने और अनुभवी लोगों के वचन याद रखने से इन्कार करते हैं, रोज-रोज होने वाले छोटे-मोटे अनुभवों को भी नहीं देख सकते। बुराई का बदला भलाई से चुकाना चाहिये, यह बात सब के मुँह पर होती है। इस का अनुभव भी होता है। फिर भी हम यह क्यों नही देख सकते कि अगर यह दुनिया वैर से भरी होती, तो इसका कभी का अन्त हो गया होता। आखिर में दुनिया में प्रेम ही बढ़ता है। उसी से दुनिया टिकी है और टिकती है। —महात्मा गाँधी।

सम्मान-गान

श्री "अरुण"

भारत की मिट्टी में पल कर
जग की गति विधि के सँग चल कर
हे सफल आदमी के प्रतीक चिर सुन्दर !—
तुमने भविष्य निर्माण किया
मानवता का सम्मान किया
हे सत्य, अहिंसा के गायक ज्योतिर्धर !

*

तुम नर बन कर आये नर-पति
भर तन, मन, जीवन में सन्मति
फैला आलोक तुम्हारा द्रुत धरती पर
तम के आँगन में हँसी किरण
चौंका हिंसाकुल सघन गगन
हे युग के प्रभापुंज मानव छवि-दिनकर !

*

मानव को इंगित मिला एक
युग के मन में विहँसा विवेक
है सत्य-अहिंसा में ही तो मानवता
इनके अभाव में ही अशान्ति
फैली है जग में विषम क्रान्ति
छाई है चारों ओर हाय, दानवता !

*

संसार सोचता है मन में
पर लिपटी है तृष्णा तन में
परमाणु - शक्ति ही उसका चपल सहारा

विज्ञान ज्ञान से है विहीन
कितना असत्य है युग नवीन
बापू ! तुमने प्राणों से हमें पुकारा !

*

हो गई धन्य भारतमाता
पा तुम्हें विश्व - नव - निर्माता,
खुल गए कोटि जन-मन-जीवन के बन्धन !

हो गया मुक्त यह द्रवित देश
हर लिया तुम्हीं ने कठिन क्लेश
हो रहा हिमालय पर अब गीता-गायन !

*

बीसवीं सदी के मनु नूतन
हे राम-कृष्ण-गौतम-मिश्रण !
दी तुमने नये सिरे से नर-परिभाषा !

युद्धाकुल जग को मिली आश
फैला तम में जब दीप्त हास
विकृत मानवता दौड़ी लिये पिपासा !

*

बतलाये तुमने ज्ञान-धर्म
ईश्वर-रहस्य, नर-कर्म-मर्म
आदर्श तुम्हारा निखिल विश्व में जीवन

तुम रहो आदमी ही बन कर
तुम खेल चुके हो मिट्टी पर
हम नहीं चाहते तुमको देव बनाना

तुम दो मानव को नित प्रकाश
हम कर लेंगे अपना विकास
हम चाह रहे वसुधा पर स्वर्ग बसाना !
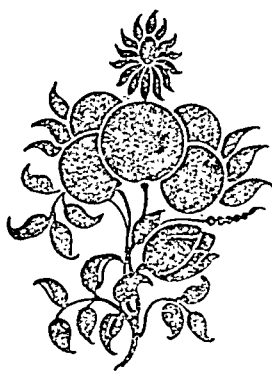
महात्मा गांधी की दिनचर्या

श्री के० राम राव

महात्मा गांधी का जीवन बहुत ही कार्य व्यस्त था। उनके जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग होता था। आलस्य एवं शिथिलता को तो उन्होंने अपने पास कभी फटकने तक नहीं दिया। किन्तु इतना कर्मवहुल जीवन होने पर भी उनका स्वास्थ्य अन्त तक अक्षुण्ण बना रहा और इस रहस्य का कारण यह था कि वह अपने नित्य की दिनचर्या में बहुत ही नियमित एवं क्रमवद्ध रहा करते थे। एक ओर जहाँ वह घड़ी की सुई पर दृष्टि रखकर काम किया करते थे, वहाँ दूसरी ओर समय के ऊपर पूर्ण आधिपत्य था। जब उनकी खुशी होती थी, वह काम किया करते थे और इस प्रकार वह सर्वतंत्र स्वतंत्र थे—इतना स्वतंत्र जितना एक राजा या सम्राट्-प्रतिनिधि भी नहीं हो सकता। किन्तु काम तो करना ही होगा और वह इस ढंग से काम किया करते थे, जिससे दिन बीतते-बीतते उनका एक भी काम अधूरा नहीं रह जाता था। वह अपने साथ बराबर एक जेब घड़ी रखा करते थे, और घड़ी रखने का उद्देश्य केवल यही नहीं होता था कि उन्हें समय का ज्ञान होता रहे, बल्कि यह भी कि उनसे जो लोग मिलने आते थे, वे निर्दिष्ट समय से एक मिनट भी अधिक नहीं ले सकें। सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्र लुई फिशर जब गांधीजी से मिलने आये थे, उस समय वार्तालाप का निर्दिष्ट समय एक घंटा बीत जाने पर गांधीजी ने उन्हें अपनी घड़ी दिखा दी। मुलाकात का समय बीत चुका था। अपनी पुस्तक में फिशर ने एक पत्रकार की हैसियत से लिखा है कि सेवाग्राम ही एक ऐसी जगह थी, जहाँ उन्हें घड़ी दिखलाकर यह संकेत कर दिया गया कि मुलाकात का समय बीत चुका है।

दूसरी बात यह कि गांधीजी एक अदम्य आशावादी थे। वह एक महान् ध्येय को लेकर जीवन धारण करते थे और उस महान् ध्येय को सफल रूप में पूर्ण करने के लिए वह कृतसंकल्प थे। उनका आत्मप्रत्यय इतना विलक्षण था कि स्पष्ट रूप में वह बार-बार मानों स्वर्ग के दिव्य देवता को यह चुनौती दिया करते थे कि अभी आधी शताब्दी तक उनके वहाँ पहुँचने की ही आशा न करें।

तीसरी बात यह कि महात्मा गांधी की रसिकता भी असाधारण थी और यह रसिकता या आनन्दप्रियता ईश-प्रार्थना के बाद मानव जीवन का दूसरा श्रेष्ठ आशीर्वाद है। एक बार एक रुष्ट पत्रलेखक ने बड़ी ढिठाई के साथ गांधीजी से
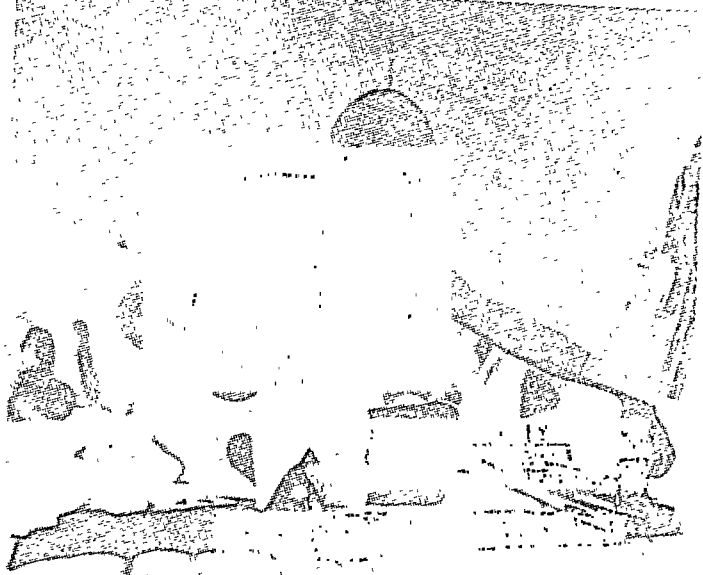
चर्खा चलाते हुए
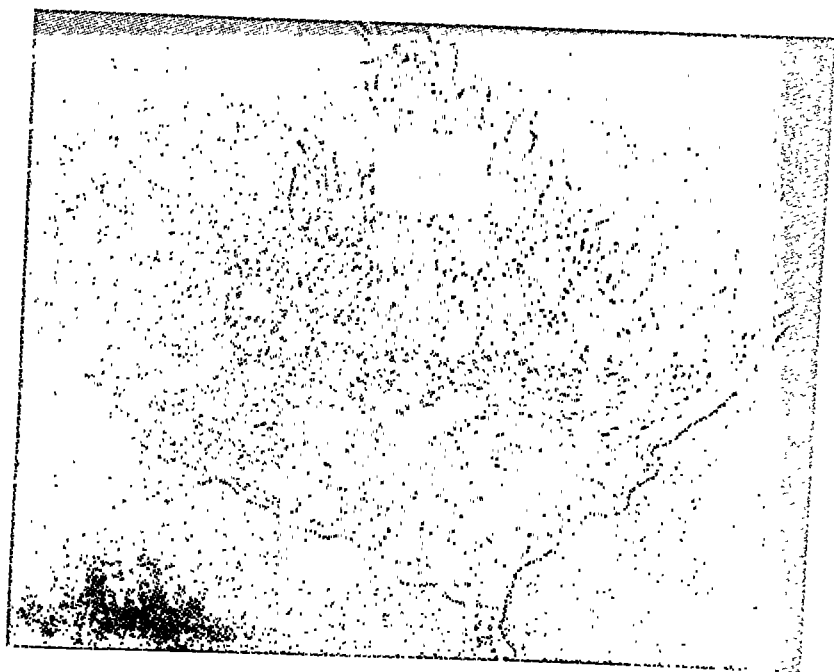
राजकुमारी एलिजाबेथ के विवाह में गांधीजी का उपहार :
उनके हाथ से कते सूत से यह उपहार तैयार हुआ था ।

बच्चों के बीच बापू

कुष्ठ-रोगी परचुरे शास्त्री की सेवा करते हुए

अपने पत्र में यह प्रश्न किया था कि आप में कुछ भी रसिकता है या नहीं। उक्त पत्रलेखक का यह खयाल था कि गांधीजी अपने सिद्धान्तों और विश्वासों में इतने कट्टर हैं कि उनमें रसिकता का अभाव जान पड़ता है। महात्मा गांधी ने पत्रोत्तर देते हुए लिखा कि यदि मुझमें रसिकता नहीं होती, तो मैं आप जैसे व्यक्तियों के साथ किस तरह पत्र-व्यवहार कर सकता था।

चौथी बात यह कि महात्मा गांधी को परमात्मा में अडिग आस्था थी और उनका यह विश्वास था कि प्रार्थना से इतने अधिक कार्य साधित होते हैं कि दुनिया उनकी कल्पना तक नहीं कर सकती। जो लोग परमात्मा में विश्वास करते हैं, उनके लिए प्रार्थना जीवन का मूल उपादान है।

पाँचवीं बात यह कि महात्मा गांधी स्वयं और जो लोग उनके साथ रहा करते थे, वे भी अपने स्वास्थ्य की छोटी से छोटा बातों के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान रहा करते थे। यदि इस उक्ति को सत्य मान लिया जाय कि रोगी स्वयं ही अपने लिए सबसे अच्छा वैद्य होता है, तो गांधीजी इसी प्रकार के एक वैद्य थे। यों तो उन्हें सदैव अच्छी से अच्छी डाक्टरी सहायता मिल सकती थी, किन्तु वह स्वयं अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बहुत सतर्क रहा करते थे और अपने भोजन तथा कार्य पर नियंत्रण रखकर अपने स्वास्थ्य के सन्तुलन को फौरन ठीक कर लेते थे।

उनकी दिनचर्या की तालिका यहाँ दी जाती है—

५-५ प्रातःकाल—शौचादि, नित्यकर्म

५-१५ ,, —आश्रमवासियों के साथ आध घंटे तक प्रार्थना।

५-४५ से ६-३० तक थोड़ी देर के लिए झपकी लेते या कार्य करते।

६-३०—जलपान

७-३० से ८-३० तक टहलना

८-३० से ११ तक—मालिश और स्नान।

११-३०—दोपहर का भोजन। अखबार पढ़वाकर सुनना।

१ से ४-३० तक—काम करना या आवश्यक होने पर झपकी लेना।

४-३०—चर्खा चलाना।

६ बजे संध्या—भोजन। अखबार पढ़वाकर सुनना।

७ बजे—प्रार्थना।

७-१५ से ८-३०—टहलना।

९ से १० बजे तक—काम करना।

१० बजे—सो जाना

महात्मा गांधी की पोशाक में कुल ६ कपड़े होते थे--तीन धोतियाँ और तीन ओढ़ने का चादरें। चादरों से वह कुर्ता और कम्बल दोनों का काम लेते थे। एक जोड़ी अतिरिक्त चादर इसलिए रखी जाती थी कि जरूरत पड़ने पर उससे काम लिया जा सके।

गांधीजी बराबर गर्म पानी से स्नान किया करते थे। साबुन का व्यवहार वह कभी नहीं करते थे। स्नान से पहले वह तेल और नींबू का रस मिलाकर मालिश किया करते थे। इसके बाद स्नान करते समय मोटे गमछे से देह को अच्छी तरह रगड़ा करते थे जिससे शरीर संपूर्ण स्वच्छ हो जाता था।

वह बिना आईने के ही सेफ्टीरेजर का व्यवहार किया करते थे, जिससे कभी-कभी दाढ़ी के छोटे-छोटे बाल यों ही रह जाते थे। समय समय पर कोई आश्रम-वासी उनके सिर के बाल काट दिया करता था। शास्त्रों में जिसे 'अपरिग्रह' कहा जाता है, गांधीजी उसके मूर्त रूप थे। वह अपने लिए किसी प्रकार का धन-संग्रह नहीं किया करते थे। उनके चश्मे का फ्रेम भी बहुत ही साधारण और पुरान ढंग का था।

गांधीजी के पास संसार के सब भागों से रोजाना ढेर के ढेर पत्र आया करते थे। इसके सिवा उनसे मिलनेवाले लोगों की संख्या भी बहुत हुआ करती थी। पत्रों के उत्तर देने, मुलाकातियों से मिलने और उन्हें सब विषयों पर सलाह देने, उनकी शंकाओं को निवृत्त करने तथा अपनी पसन्द की पुस्तकें पढ़ने में उनका समय व्यतीत होता था। उनके अधिकांश पत्रों के उत्तर उनके सेक्रटरी श्रीप्यारे-लाल लिखा करते थे। आवश्यक पत्रों के मजमून गांधीजी स्वयं लिखाया करते थे। उन्हें पत्र पढ़कर सुना दिये जाते थे और उनका जवाब किस ढंग से दिया जाना चाहिये, इस सम्बन्ध में उनकी हिदायतें नोटकर ली जाती थीं। स्वयं वह बहुत कम पत्र लिखा करते थे। अपने हाथ से वह अपने पुराने मित्रों या बीमार आदमियों को पत्र लिखते थे। वह हिन्दी या गुजराती में पत्र लिखा करते थे। अत्यावश्यक होने पर ही वह अँगरेजी भाषा का व्यवहार करते थे। गांधीजी को पत्र लिखनेवाले सब तरह के प्रश्न अपने पत्रों में उनसे पूछा करते थे, क्योंकि उनका खयाल था कि गांधीजी सबसे बढ़कर ज्ञानी गुणी पुरुष हैं और विधाता ने उन्हें दो अतिरिक्त नेत्र दिये हैं, जिनसे वह सभी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और व्यक्तिगत समस्याओं की तह में पहुँचकर उनका समाधान कर सकते हैं। कभी-कभी अप्रसिद्ध भारतीय भाषाओं में लिखे हुए ऐसे पत्र उनके पास आते थे, जिनके जाननेवालों की तलाश की जाती थी और तब उनसे पत्र पढ़वाकर उनके उत्तर दिय जाते थे।

उनका रोजाना डाक के थैले में केवल चिट्ठियाँ और समाचारपत्र ही नहीं, लेखकों और प्रकाशकों द्वारा भेजी गयी बहुत-सी पुस्तकें भी हुआ करती थीं। पुस्तकें या तो सम्मानार्थ भेजी जाती थीं अथवा उनकी सम्मति प्राप्त करने के लिए। इस प्रकार की पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक हुआ करती थी कि उनसे एक खासा सुन्दर पुस्तकालय बन जाय।

गांधीजी से रोजाना मिलनेवालों की संख्या अधिक होती थी, इसलिये उनके सेक्रेटरी श्रीप्यारेलाल का एक अप्रिय कार्य यह होता था कि वह मिलनेवालों को रोक रखें। जिन लोगों को गांधीजी से मिलने की अनुमति मिलती थी, उनके लिए भी समय निर्दिष्ट होता था। गांधीजी जब थक जाते थे, तब वह लेट जाते और लेटे हुए ही मुलाकातियों से मिलते और बातचीत करते। संवाददाताओं के प्रश्नों के उत्तर लिखकर दिये जाते थे। सोमवार को उनका मौन दिवस होता था। इस दिन वह प्रश्नों के उत्तर लिखकर देते थे।

गांधीजी चुनी हुई पुस्तकें पढ़ा करते थे। अपने जीवन के पिछले कई वर्षों में उनके ध्यान का प्रधान विषय था रचनात्मक कार्यक्रम। इस विषय का जितना साहित्य उनके पास पहुँचता था, वह सबको ध्यानपूर्वक पढ़ा करते थे। हाल में मैंने उन्हें त्रिदोष, राष्ट्रभाषा और गोधन पर पुस्तकें पढ़ते देखा था। जेल में उनका अध्ययन विस्तृत था। वहाँ उन्होंने शेक्सपीयर की आधी कृतियाँ और बर्नार्डशा के बहुत से ग्रन्थ पढ़ डाले। मीरा बेन ने उनके हाथ में अँगरेज कवि ब्राउनिंग का काव्य-संग्रह रख दिया और उन्होंने ब्राउनिंग की कृतियों में, 'The Grammarian's Funeral' और 'Rabi Ben Ezra' को ज्यादा पसन्द किया। उन्होंने मार्क्स के 'कैपिटल' ग्रन्थ का इतना गम्भीर अध्ययन किया था कि वह बड़े-से-बड़े कम्युनिस्टों के साथ वादविवाद कर सकते थे।

गांधीजी किसी एकान्त स्थान में बैठकर चिन्ता नहीं किया करते थे, जैसा कि कुछ महान् पुरुष किया करते हैं। उनके चिन्तन और भाषण एक साथ चलते थे। जो कुछ बोलते थे, अच्छी तरह सोच-विचार कर।

बहुत अस्वस्थ होने पर ही उनका प्रातः और सायं का टहलना बन्द होता था। टहलते समय दो आश्रमवासी उनके साथ अवश्य होते थे। कभी-कभी जब सेवाग्राम में कोई बड़ा अनुष्ठान होता था, ऐसे अवसरों पर जनसमूह ही उनके पीछे हो लिया करता था। उस समय वह चाहे अपनी चाल को कितनी ही तेज क्यों न कर दें, [illegible] उनके लिए कठिन हो जाता था। जो

मौके से लाभ उठाकर उनके पीछे हो लेते और उनके दर्शनों को पाकर अपने को कृतार्थ समझते।

प्रार्थना के समय की प्रतीक्षा लोग बड़ी उत्कण्ठा से किया करते थे, क्योंकि इस समय केवल उनके दर्शनों का ही सुयोग नहीं मिलता, बल्कि श्रद्धालुजनों के लिए सन्तसमागम भी बड़े पुण्य का कार्य समझा जाता था। प्रार्थनासभा में सब धर्मग्रन्थों के वाक्य पढ़कर सुनाये जाते या भजन गाये जाते थे। 'आश्रमभजनावली' के कुछ भजन गाये जाते, फिर नियमित भाव से कुरान और बाइबिल के प्रार्थनावाक्य पढ़कर सुनाये जाते। धर्म के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। कुछ समय पहले एक नास्तिक उनके सामने लाया गया, ताकि गांधीजी तर्क-वितर्क द्वारा उसे ईश्वरविश्वासी के रूप में परिवर्तित कर दें। मुझे इस समय स्मरण नहीं है कि वह उनकी युक्तियों को मान कर नास्तिक से आस्तिक बना या नहीं। किन्तु गांधीजी ने इस बात को मान लिया कि कोई व्यक्ति यदि नास्तिक होने पर भी सच्चरित्र हो और उसमें लोकसेवा की भावना हो, तो वह उसी तरह संसार का सुधार कर सकता है जिस तरह एक प्रार्थना करनेवाला व्यक्ति। जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास न करते हुए भी ऐसे आचरण करता है, जो ईश्वर को इष्ट है तो वह उसी तरह साधु समझा जायगा, जिस तरह ईश्वर में विश्वास करनेवाला एक आस्तिक।

प्रार्थना समाप्त हो जाने पर गांधीजी चबूतरे पर बैठ जाते थे और हस्ताक्षर करते थे। हस्ताक्षर का शुल्क पाँच रुपया लिया जाता था। चौदह भाषाओं में वह अपना हस्ताक्षर कर सकते थे।

लकड़ी के एक तख्ते पर एक पतली गद्दी बिछी हुई होती थी जिस पर वह सोया करते थे। इससे अधिक उनके बिछावन में और कुछ नहीं होता था। पहले वह तीन तकियों का व्यवहार करते थे, किन्तु बाद में उन्होंने तकिये का व्यवहार करना एकदम छोड़ दिया था। डाक्टरों की सलाह से वह ८ घण्टे बिछावन पर बिताते थे और दिन में आध घण्टे या एक घण्टे के लिए विश्राम कर लिया करते थे। बहुत काम होने पर वह ६ घण्टे से अधिक आराम नहीं करते थे। कभी-कभी अधिक काम होने या कोई पेचीदा सवाल सामने आ जाने पर उन्हें आराम करने का समय बिलकुल नहीं मिलता था। पुस्तक पढ़ते हुए सो जाने या दूसरे से पुस्तक पढ़वाकर निद्रा का आवाहन करने का अभ्यास गांधीजी को नहीं था।

गांधीजी का आहार बहुत स्वल्प, किन्तु सावधानी के साथ चुने हुए पदार्थों का होता था। भोजन के समय वह अपने नकली दाँतों का प्रयोग करते थे और खूब चबा-चबाकर खाते थे। प्रातःकाल टहलने से पहले वह नारंगी का आठ छटाँक

रस, एक चम्मच आँवले का मोरब्बा तथा एक छटाँक गुड़ खाया करते थे। दोपहर के भोजन में तीन से चार छटाँक तक उबाली हुई तरकारी और लगभग एक छटाँक हरी सब्जी हुआ करती थी। नमक का व्यवहार वर्जित था। इसके साथ एक या दो छटाँक रोटी भी जो खास तरह से गेहूँ और बकरी के दूध की बनी हुई होती थी, शामिल थी। वर्षों पहले उन्होंने किसी प्रकार का दूध ग्रहण नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु स्वास्थ्य खराब हो जाने पर उन्हें विवश होकर बकरी का दूध ग्रहण करना पड़ा। गांधीजी के मेहमान को पहले से ही बकरियों का प्रबन्ध कर रखना होता था। दूध के बदले में वह उबाला हुआ खजूर, सेब और आम के मौसम में पका आम खाया करते थे। 'चाय' के बदले में वह चार छटाक गरम जल शहद और सोडा बाइकारबोनेट के साथ लिया करते थे।

आश्रमवासियों के भोजन में गेहूँ, चावल और तरकारियों का अंश कुछ अधिक होता था। तरकारियों में नमक और प्याज भी स्वाद के लिए डालते थे।

महात्मा गांधी अपने लिये कोई नौकर-चाकर नहीं रखते थे, उन्हें नौकरों की जरूरत नहीं होती थी। जिस काम को वह स्वयं नहीं कर सकते थे, उनके साथ के लोग कर लिया करते थे। श्रीप्यारेलाल उनके प्रधान सेक्रेटरी के रूप में पत्रों के जवाब दिया करते थे और आगन्तुक व्यक्तियों को उनसे मिलाते थे। इसके सिवा श्री नरहरि परेख और श्रीहेमन्त कुमार नीलकंठ भी उनके सहायक थे। गांधीजी के पौत्र श्रीकनू गांधी गांधीजी की परिचर्या में रहा करते थे। आश्रम के खर्च या हिसाब-किताब भी वही रखा करते थे। डा० सुशीलानायर के ऊपर उनके स्वास्थ्य की देखभाल का भार था। श्रीप्यारेलाल के साथ डा० सुशीलानायर भी गांधीजी को समाचारपत्र से जरूरी खबरें पढ़कर सुनाया करती थीं। अखबारों की कतरने भी रखी जाती थीं।

महात्मागांधी चाहे जहाँ कहीं रहें—सेवाग्राम की कुटिया में या किसी करोड़पति के राजप्रासाद में—उनकी दैनिक-चर्या में कोई फर्क नहीं पड़ता था। उनकी दिनचर्या के तीन मूल सूत्र थे—समय नष्ट नहीं करना ; व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना और सतत् सावधान रहना। इस प्रकार महात्मा गांधी अपनी शारीरिक शक्तियों का सदुपयोग अत्यन्त कुशलता के साथ किया करते थे जिससे वह राष्ट्र के अत्यन्त उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यभार को सम्भालते हुए भी अपने स्वास्थ्य को जीवन के अन्तकाल तक अक्षुण्ण रखने में समर्थ हुए।

एक बार रँग गयी धरा फिर ईश-रुधिर से पावन

प्रो० 'अँचल'

एक बार फिर झुकी स्वर्ग की गर्वित देव-पताका
शोणित से रँग गयी मनुजता की भू-लुंठित आशा
शिवता के सपनों की रूपाकृति बिखरी भू-रज पर
चला देश का पिता करोड़ों औरस पुत्र रुला कर
यह कैसा उन्माद ! पुत्र ने स्वयं पिता को मारा
बना मनुज ही हाय ! महेश्वर का घाती—हत्यारा !
हुई अमर्त्य मर्त्यभू पाकर देवाहुति का चन्दन
एक बार रँग गयी धरा फिर ईश-रुधिर से पावन !

(२)

जल पाये थे दीप न तबतक, थी गोधूली वेला
चला गया बापू संतति को छोड़ अधीर अकेला
व्याप्त हो गया अन्धकार में सौरभ देव-पवन का
गूँज उठा करुणार्द्र 'राम' से कंपित क्रोड़ गगन का
हाहाकार उठा मानव के खंडित भग्न हृदय से
गूँज उठा प्रति रोम मनुज का 'जय बापू की जय' से
मन्द न वन्दन के स्वर होंगे—साथ चलेगा क्रन्दन
एक बार रँग गयी धरा फिर ईश-रुधिर से पावन

(३)

याद न रहती मीच किसी को मीच स्वयं मिट जाती ?
भूल सकेगा कौन—विश्व-सी विस्तृत जिसकी छाती ?
तुम हो इतने निकट हृदय के—नमन न तुम तक जाता
खूँ से रँगा प्रणाम हमारा पहुँच न तुम तक पाता !
पकड़ो हाथ हमारा बापू ! हमें प्रकाश दिखाओ
जीवन की गर्मी से जलते मानस पर छा जाओ
गति अविनश्वर देव तुम्हारे—नश्वर कवि का गायन
एक बार रँग गयी धरा फिर ईश-रुधिर से पावन

ग्रैल के बल राम' नाम का दूर जहाँ है सोता
। गया भगवान हमारा जग की जड़ता खोता
श्वास श्वास थी बनी भारती प्रभु की दीप्त विनय की
बधी बधिक ने मूर्ति आर्द्र-करुणा की और अभय की
बधेगा निशभाल के अव्यय ज्योतिर्मय को ?
बधेगा अविनाशी प्राणों की मूर्त विजय को ?
बधा बधिक ने गात दिव्यता का—अवदात विभातन
एक बार रँग गयी धरा फिर ईश-रुधिर से पावन

(५)

धरा का अमृत-शेष अवशेष भूमि पर तप का
दया-निकेत—क्षमा का कर्णधार प्रभु जप का
गये बाहु दो जो युग-युग की खोई सत्ता लाये
मुँदे नेत्र जिन में जग ने अवतारी दर्शन पाये
वज्राघात ! भूमि पावन हो बनी अनाथा
अभय अब देगा जग को सुन रौरव की गाथा
हुई सृष्टि श्रीहीन धरा का चला दासता-मोचन !
एक बार रँग गयी धरा फिर ईश-रुधिर से पावन !

(६)

दो हमें ज्योतिधन ! ओ सन्मति के स्वामी !
हैं हम अन्धकार में ओ गुरुदेव ! अनामी !
सुख-दुख,जन्म-मरण की लहरों के चालक अविनाशी !
मुक्त करो लघुता के बन्धन से तुम हमें प्रवासी !
र तुमने हमको शुचिता का पाठ पढ़ाया
' बनकर अब बरसो, करो शान्ति की छाया
नत हो अलख जयी चरणों पर जग के पापी का मन
एक बार रँग गयी धरा फिर ईश-रुधिर से पावन !

०

गीता और रामायण पर गांधीजी

श्रीपरशुराम मेहरोत्रा, एम० ए०

महात्मा गांधी ने संसार के मुख्य-मुख्य सभी धर्म-ग्रन्थों का अनुशीलन किया था; वे सब मतों, धर्मों अथवा मजहबों को आदर की दृष्टि से देखते थे; उनके साबरमती-आश्रम में, जिसे उन्होंने आज से ३३ वर्ष पहले अहमदाबाद के पास उसके जन-कोलाहल से दूर एक गाँव में स्थापित किया था, आश्रम वासियों के पालनार्थ जो नियम बनाये गये थे उनमें एक यह भी था कि दूसरों के धार्मिक विश्वासों के प्रति उतनी ही श्रद्धा रखनी चाहिये, जितनी कि अपने धर्म के प्रति। वे श्री ग्रन्थसाहब, कुरान शरीफ और होली बाइबिल का अध्ययन कर चुके थे; श्री गीता जी के वे अनन्य भक्त थे। इस अद्भुत ग्रन्थ को उन्होंने अपनी सुबह शाम की प्रार्थना का एक आवश्यक अंग बना लिया था। श्री गीता जी के दूसरे अध्याय के ५४ वें श्लाक से ७२ वें श्लोक का पाठ उनकी शाम की प्रार्थना का मुख्य अङ्ग जैसा सन् १९२० में था, वैसाही सन् १९४८ में। प्रातःकाल की प्रार्थना में श्री गीता जी के कुछ अध्यायों का पाठ भी कराया जाने लगा था; लगभग एक सप्ताह में इस पवित्र ग्रन्थ के अठारहों अध्यायों का पारायण समाप्त हुआ करता था; बहुत से आश्रम वासियों को गीता कण्ठ थी; श्रीगीताजी पर उन्होंने कई लेख और पत्र लिखे, जिनमें उनके अमूल्य विचार सन्निहित हैं; उनके वे लेख एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। उस पुस्तिका का नाम है 'अनासक्तियोग'।

वे कहा करते थे कि मैं चाहता हूँ कि गीता प्रत्येक शिक्षण-संस्था में पढ़ाई जाय और एक हिन्दू बालक के लिए गीता का न जानना शर्म की बात होनी चाहिये। वे गीता को विश्वधर्म का पवित्र ग्रन्थ मानते थे। वे कहा करते थे कि जब जब संकट पड़ता है, तब तब हम उसे टालने के लिए गीता के पास दौड़ जाते हैं और उससे आश्वासन पाते हैं। ऐसी एक भी धार्मिक समस्या नहीं, जिसे गीता हल न कर सके" ये शब्द उनकी पवित्र लेखनी से कई बार निकल चुके हैं। गीता जी के पठन से हमें नित्य नया आनन्द मिलता है; चारित्र्यबल तथा पुरुषार्थ की दात्री श्रद्धा है और हमें श्रद्धा श्री गीताजी तथा तुलसीकृत रामायण से प्राप्त होती है।"

महात्मा गांधी ने साबरमती आश्रम में रहनेवाले ७ वर्षीय एक बालक को उसके पत्र के उत्तर में यरवदा-मंदिर से सन् १९३२ ई० में निम्नलिखित

पत्र लिखा था—"चि. विमलकिशोर, सब गीता पढ़ते हैं क्योंकि गीता हमारी माता है और जब कुछ प्रश्न उठता है तो उससे पूछते हैं—१-९-३२ बापू"

गोस्वामी तुलसीकृत रामायण के विषय में वे कहा करते थे कि "यह विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ है"; "श्रद्धा की खान है"; "यह भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ है" आज से २४ वर्ष पूर्व उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक को रामायण के बारे में जो पत्र लिखा था, उसकी नकल नीचे दी जाती है:—

चि....तुम्हारा पोस्टकार्ड मिला; रामायण का अभ्यास खूब ध्यान से करना; एक बार पढ़ने से काफी नहीं होगा—बापू के आशीर्वाद ज्येष्ठ शुक्ल १। इस पोस्टकार्ड पर डाकखाने की जो मुहर पड़ी है, उससे यह प्रकट है कि यह पत्र ४ जून १९२४ को लिखा गया था।

जब सन् १९२६ में उनका बुलावा आने पर मैं साबरमती आश्रम गया, तब मैंने देखा कि वे शाम की प्रार्थना के पश्चात् तुलसीकृत रामायण सब आश्रम-वासियों को नित्य पढ़ाते हैं। उनकी मेजपर तुलसीकृत रामायण तथा स्वर्गीय प्रोफेसर रामदासजी गौड़ के द्वारा लिखी गई टीका नित्य रहा करती थी; दोपहर के विश्राम के पश्चात् वे गौड़जी की पुस्तक का अध्ययन करते थे और उसी दिन शाम को पढ़ाई जाने वाली पंक्तियों को अच्छी तरह पढ़ लिया करते थे; रामायण पढ़ाते समय गुजराती भाषा का प्रयोग करते थे।

सुबह की प्रार्थना के दो घंटे पश्चात्, लगभग ७ बजे, आश्रम की स्त्रियाँ उनके पास हिन्दी तथा धर्म पढ़ने जाया करती थीं; यह वर्ग उनके खास कमरे में लगा करता था; इस वर्ग में वे स्त्रियाँ किसी दिन इसलाम धर्म की मुख्य-मुख्य बातें, किसी रोज संस्कृत का एक श्लोक तथा किसी रोज तुलसीकृत रामायण की पंक्तियाँ लिखकर ले जातीं और गांधीजी को दिखातीं। इस वर्ग को शुरू करने के पहले सब स्त्रियाँ अत्यन्त भक्तिपूर्ण मधुर और धीमे स्वर में निम्नलिखित भजन गाती थीं:—

गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रियः
कौरवैः परिभूतानाम् किम् जानासि केशव
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशनम्
कौरवार्णवमग्नानाम् उद्धरस्व जनार्दन
कृष्ण कृष्ण महायोगिन विश्वात्मा विश्वभावन्
प्रपन्नाम् पाहि गोविन्दम् कुरुमध्यवसीदतीम्

इन स्त्रियों को जो सबक लिखने को एक दिन पूर्व दिया जाता था, उसे महात्मा गांधी स्वयं अपने हाथों से शुद्ध करते थे और पाठशाला के शिक्षक

की तरह सुलेख तथा शुद्ध लिखावट पर नम्बर भी देते थे। यहां पर एक बात उल्लेखनीय है:—

इन आश्रम-वासिनी महिलाओं में से दो के सुलेखों पर दिये गये नम्बर क्रमश: ७/१० और ८/१० हैं। जिस बहन ने दस में ७ नम्बर पाये थे, उसने "आत्मन: प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्" पंक्ति अपने होमटास्क में दिखाई थी; यह पेंसिल से लिखी हुई थी और "प्रतिकूलानि" शब्द में ह्रस्व "उ" की मात्रा दी हुई थी; बाद को उस मात्रा को काटकर बड़े 'ऊ' की मात्रा लगाई थी; आचार्य गांधीजी ने उस बहन को फक़त् ७ नम्बर दिये और लिखा "काटा कूटी मत किया करो" एक दूसरी कापी में रामायण की ये पंक्तियाँ लिखी हुई थीं

"जेहि पद सुर सरिता परम पुनीता प्रकट भई शिवसीसधरी
एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरिचरन परी
जो अतिमन भावा सो वर पावा गई पति लोक आनन्द भरी।

इस सबका का अन्त निम्न-लिखित दोहे से हुआ था।

अस प्रभु दीन दयाल हरि कारण रहित कृपाल,
तुलसिदास शठ ताहि भज छाड़ि कपट जंजाल।

इस कापी में 'शठ की जगह "सठ" लिखा था और तुलसिदास की जगह तुलसीदास लिखा था; इस विद्यार्थिनी की कापी पर "रिमार्क" कुछ न था और उसे १० में ८ नम्बर मिले थे। शाम के वर्ग में सन् १९२६ में महात्मा गांधी ने आश्रम वासियों को तुलसीकृत रामायण के बालकाण्ड का कुछ अंश पढ़ाया था। सन् १९३२ में उन्होंने यरवदा मंदिर से मुझे इस आशय का एक पत्र लिखा कि 'साबरमती आश्रम में सब को, या जो पढ़ना चाहे उसे रामायण पढ़ाया करो; रामायण का शौक सबको हो जावे तो एक पंथ दो काज सा होगा" ५ जुलाई सन् १९३२ को उन्होंने मेरे पत्र के उत्तर म मुझे एक दूसरा पत्र गुजराती में लिखा, उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है:—

राधेश्यामजी की रामायण वगैरह को मैं संस्कारी ग्रन्थ नहीं मानता; तुलसीदासजी की कृति महा संस्कारी है। हमें तो इस रामायण में रस पैदा करना है। तुलसीदास जी का रामायण में से उन्हीं का भाषा में संक्षिप्त रामायण जरूर उत्पन्न की जा सकती है; बालकाण्ड के विषय में मैंने ऐसा प्रयत्न किया भी था; मेरी इस पुस्तक की एक नकल जहां तक मेरा ख्याल है, आश्रम में हैं; इस बात को लगभग बीस वर्ष हो गये (इससे स्पष्ट है कि सन् १९१२ में उन्होंने यह प्रयास किया था) अगर आज फिर से मैं इस काम को हाथ में लूं तो दूसरी ही चौपाई दोहे कदाचित पसन्द करूँगा। चि० प्रभुदास ने भी इस दिशा में प्रयत्न

किया है....जो हिन्दी वर्ग तुम आश्रम में लेते हो, उनमें रामायण के प्रति रस उत्पन्न किया जा सकता है" श्री रामायण जी में लिखित एक चौपाई में लिखा है

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं
अन्त राम कहि आवत नाहीं

महात्मा गांधा ने इसके महत्व को अच्छी तरह समझा था और उनके परलोकवास के समय उनके मुख से 'राम' का पवित्र शब्द सहसा निकल पड़ा ! रामायण में वर्णित परोपकार उनका मूल मंत्र था; क्रोध और अभिमान, जिनसे बचते रहने का उपदेश रामायण में पग-पग पर किया गया है उन्हें छू तक नहीं गये थे। वे राम के सच्चे उपासक थे, रामायण के अनन्य प्रेमी थे और गोस्वामी तुलसीदास को एक आदर्श भक्त मानते थे। गोस्वामीजी ने अपने रामचरित-मानस में स्थल-स्थल पर "सन्त" के गुणों का जो मनोहर वर्णन किया है, वह महात्मा गांधी पर पूर्ण रूपेण घटित होता है मानो गांधी जैसे सन्त के आविर्भूत होने की सम्भावना वे पहले ही कल्पित कर चुके थे। दोनों सन्त शिरोमणि तुलसीदास और मोहनदास रामजी के सच्चे भक्त थे। अन्तर इतना ही था कि तुलसीदास के जमाने में अंगरेजी और भौतिक सभ्यता का प्रसार न हुआ था और उन्होंने कविता द्वारा अपना दिव्य सन्देश संसार को सुनाया; महात्मा गांधी जैसा अनुभवी नेता अंगरेजी का धुरंधर विद्वान, तत्ववेत्ता और ज्ञानी गोस्वामी जी की अद्भुत लेखिनी का कायल हो गया था और उनके "मानस" को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ बतलाता था। आजकल के ग्रैजुयेटों को इससे कुछ सबक सीखना चाहिये।

o

बौद्धिक कार्य भी अपना महत्व रखता है और जीवन में उसके लिए विशेष स्थान भी है ; लेकिन मैं तो शारीरिक मेहनत की जरूरत पर जोर देता हूँ। मेरा यह दावा है कि इस कर्तव्य से किसी भी व्यक्ति को छुटकारा नहीं मिलना चाहिए। इससे मनुष्य की बौद्धिक शक्ति की उन्नति ही होगी। मैं तो यहाँ तक कहने का साहस करता हूँ कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के ब्राह्मण बौद्धिक और शारीरिक दोनों काम करते थे। वे चाहे न भी करते हों, लेकिन आज तो शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है। —म० गांधी

मंगल-मूर्त्ति

श्रीराजेन्द्रप्रसाद सिंह

सृष्टि के अन्तर में बज रहे,
तुम्हारे अक्षय गौरव-गान।
कुलिश-युग के मन्दिर में देव!
तुम्हीं थे मंगल-मूर्ति महान्।

सदा, जब-जब भूतल पर फैल गये अपकर्मों के तम-जाल—
प्रगट तब-तब मिट्टी की स्वर्ण-कुक्षि से हुए किरण के लाल।
किन्तु, सबने देखा अन्याय और जन-गण का विभ्रम-त्रास।
और सबने क्रमशः अत्यधिक, व्यक्ति का चाहा उच्च विकास।
दिये सबने मानव को सत्य, धर्म, शुचिता के प्रिय सन्देश।
किन्तु रख सका सुरक्षित नहीं मनुज उर में उनके आदेश।

सदी पर सदी बीतती गई, विकृत हो गया पुनः संसार।
संकटों की छाई फिर घटा, अभावों के गूँजे चीत्कार।
निरंकुश बल का होकर दास कुटिल बन गया जगत का ज्ञान।
कूटनीतिक ज्वाला में झुलस गये जग के नैतिक वरदान।
स्वार्थ की स्वप्नमयी कल्पना उगी घन-माया-सी रंगीन।
उसे पाने को विष की राह लगा चलने मानव मति-हीन।

लगे चलने गतिशाली पाँव रौंदते कुसुम-कुसुम की लाश।
कुचलकर दूर फेंकते स्वयं, हृदय से पीड़ा के विश्वास।
और फिर झुलस उठे हर ओर मनुज के पापों से गृह, द्वार।
घृणित लपटों में होने लगे हृदय के गुण जल-बुझकर क्षार।
जगत के अभिशापों को देख, मौन उडुगण भी हुए अधीर।
शान्ति के अन्वेषण में विकल, सिसकता फिरने लगा समीर।

धरा के क्रन्दन से फिर उठा, महास्रष्टा का आसन डोल।
किरण में कोलाहल छा गया, निनादित होकर हिला खगोल।

विकल दिग्वधुओं की हो उठी ध्वनित नन्दन तक, करुण पुकार।
आदि-शिल्पी तव गढने लगा, देव ! तेरी प्रतिमा साकार।

वना मिट्टी का मृदुल शरीर, सृष्टि के सब तत्त्वों का पुंज।
कि जिसमें एक हृदय सुकुमार, धीर, गंभीर, रश्मि का कुंज।

पुण्य चरणों में गति निर्वाध, वरद हाथों में चिर कल्याण।
और, चिन्मय अंगों में भरे, कनक-द्योतित प्राणों के प्राण।

कंठ में सुधा-कलश उन्मुक्त, शब्द बूँदों से सिक्त, पुनीत।
मर्म-ग्राही, व्यापक, मृदुभाव,—वज्र के भी उर लें जो जीत।

सजग मुद्रा में शान्ति अगाध, अमल अधरों पर चिर-मुसकान।
चाँदनी से धुल, खिलते नयन, कि जिनमें शीतल नया विहान।

श्वास में अन्तर के मकरंद, भाल पर चिन्तन-पूर्ण प्रकाश।
हुआ सर्जित करुणा का देव, पुलक से सिहर उठा आकाश।

खुला कितनी सदियों के वाद, पुनः संसृति का द्वार ललाम।
उठे ग्रह-मंडल भी जयबोल, तुम्हारा लेकर पावन नाम।

धरा पर तुम आये दुर्वृत्त मनुज का करने को उद्धार।
अरुण नवयुग का विह्वल प्रात तिमिर-बन्धन में उठा पुकार।

किन्तु, सामने खड़ी हो गई वन्दिनी जन्मभूमि पथ रोक।
महाप्रण वनकर गूँजा प्रथम-प्रथम तेरे मन का दुख-शोक।

अचलता में दी तुमने फूँक तपस्या की निज शक्ति ज्वलन्त।
हवा में लगे सुलगने स्वयं धूल के कण होकर जीवन्त।

तुम्हारा पाकर आशीर्वाद पुनः जागा, निर्भय हो, देश।
एक उँगली का इंगित मिला, मिली विद्युत की शक्ति अशेष।

तुम्हारे आवाहन पर उमड़ पड़ा पौरुष का पारावार।
किसी के हाथों से, उद्दाम, छीन लेने को निज अधिकार।

न जाने कब के सोये सिंह लगे गर्जन करने उद्दंड।
तोड़ने को पिंजड़ के द्वार, तुम्हारा सुन आदेश अखंड।

कौंधने लगी अग्नि-दामिनी; लहू की बूँदों से उत्पन्न।
पड़ी यौवन की ज्वाला फूट, नहीं रह सकी दबी, प्रच्छन्न।

मगर तुमने न दिया निर्देश कभी करने को स्वयं प्रहार।
सिखाया सपने में भी नहीं कभी तुमने लेना प्रतिकार।

एक सच्चे आग्रह का अस्त्र, अहिंसा की खर धार अटूट,—
सहन-संयम का शौर्य अजेय, और पथ पर बाधा के कूट।

किया अन्यायों के तन नहीं, हृदय पर ही तुमने आघात।
और, बन्धन से कहते रहे स्वयं खुल जाने को, दिन-रात।

प्रबल तेरा यह नया प्रयोग, तुम्हारा यह नूतन संग्राम,—
और, सच ही विस्मय से भरा हुआ इसका मौलिक परिणाम।

साध्य था कितना दूर, कठोर, और साधन थे कोमल, पास।
असम्भव-सी लगती थी सिद्धि, पड़ा था एक विरोधाभास।

किन्तु कोई ताक़त अज्ञात गई सारी कड़ियों को खोल।
विनत होकर आगई अनीति चुकाने को शोणित के मोल।

बजी फिर भारत की दुन्दुभी, देखकर यह अभ्युदय महान।
विजय के शंख-नाद में हुए ध्वनित क्षितिजों तक मंगल-गान।

लगा लिखने कुछ पृष्ठ नवीन सृष्टि का वृहत, अमर इतिहास।
एक अनमोल राह पा गया मनुजता का विक्षुब्ध विकास।

लगे छाने खुल-खिल सर्वत्र तुम्हारे सौरभमय उपदेश।
और, कण-कण के दर्पण बीच झलकने लगा तुम्हारा वेश।

देव! तुम चिर स्वतन्त्र, निर्लिप्त, मनुजता के सर्वोन्नत रूप।
तुम्हारे शब्द विचरने लगे तुम्हारा ही धर पूज्य स्वरूप।

गूँजने लगी एक आवाज, विश्व के प्राणों पर, अम्लान;—
"उठो, जागो, मानव निर्बन्ध! सभी प्राणी हैं एक समान।

"उठो, जागें उर-उर की ज्योति, परिस्थितियों का तज आतंक।
उठो, जागें सबके पूर्णत्व, व्यक्तियों में, अकलुष, निःशंक।

उठो, जागरण-पर्व रच, करो पुनः नवजीवन की पहचान।
नहीं बाहर का कुछ अवलम्ब, करो निज में बल का सन्धान।

तेज जब हो उठता संदीप्त, मलिनता हट जाती है आप।
भरो शुचिता की कोमल वायु, निकल जायँगे मन के पाप।

"उठो, जागो बन संस्थितप्रज्ञ, जगो तजकर सारे व्यवधान।
जगो, लेकर समदृष्टि अमन्द, नित्य करने को नव बलिदान।

प्रतिध्वनि बनकर छाये और न जाने कितने दिव्य विचार!
प्रकृति के रंध्रों में हो उठा शुद्धि के मन्त्रों का संचार।

पंथ रचते-रचते तुम हुए वृद्ध, मंजिल आ गई समीप।
तुम्हारी लौ से जलने लगे गगन में भी मिट्टी के दीप।

जगत का घोर तिमिर लड़खड़ा गया तेरी द्युति को पहचान।
किन्तु, फिर भी तेरा निर्वाण आ गया, सहसा ही, अनजान।

लगा हल्का-सा एक झकोर, तुम्हारी शिखा बुझ गई, हाय!
गिरे खण्डित होकर तुम, और काल देखता रहा निरुपाय।

काल निरुपाय खड़ा रह गया कि तुम चल पड़े स्वयं, हा! हन्त!!
नहीं तो कर पाती क्या कभी एक आँधी दिनमणि का अन्त?

विकल अग-जग कहता है चीख—'हुई हत्या बापू की, आह!'
मगर मैं देख रहा अनिमेष,—पूर्ण हो गई अधूरी राह।

राह मानव की, बिलकुल नई,—तुम्हारा उज्ज्वल आविष्कार—
रहेगा प्रेरित करता सदा कर्म को, जिसका ज्योतिर्द्वार।

स्वयं मरकर तुमने कर दिया
मनुजता को अमरत्व प्रदान।
कुलिश-युग के मन्दिर में, देव!
तुम्हीं थे मंगल-मूर्ति महान।

मुक्तक काव्य "गांधी लोक" का एक अंश। —र०
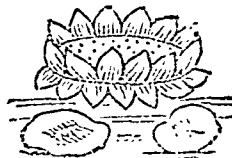
बापू के कुछ पत्र

श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी

२६ नवम्बर सन् १६२१ की बात है। महात्माजी साबरमती आश्रम में
विद्यमान थे। समय निश्चित करके मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ और गा
संग्रहालय के विषय पर उनसे बहुत से प्रश्न किये। विनम्रतापूर्वक मैंने पूछा
"आपका पत्र-व्यवहार किस-किस से हुआ था ?"

बापू ने मुस्कराकर इसके उत्तर में कहा—"ओहो ! पत्र-व्यवहार जि
मेरा हुआ है उतना दुनिया में शायद ही किसी का हुआ होगा। बेशुमार
व्यवहार करना पड़ा।" तत्पश्चात् उन्होंने उन मुख्य-मुख्य आदमियों के
बतलाये, जिनसे उनकी चिट्ठी-पत्री हुई थी।

बापू से अनकों पत्र पाने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था और दूसरो
भेजे हुए उनके पचासों पत्र मैंने पढ़े हैं। यही नहीं, बिना किसी व्यर्थाभिमा
मैं कह सकता हूँ कि जहाँ तक पत्र-साहित्य का सम्बन्ध है, मेरे क्षुद्र संग्रह से अ
व्यापक और विविध संग्रह शायद ही किसी हिन्दी-भाषाभाषी के पास हो।

बापू के पत्रों को पढ़ने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इस प्र
सूत्ररूप में अपनी बात को लिख देनेवाले व्यक्ति संसार में बहुत ही कम ह
उनका कोई-कोई वाक्य तो वास्तव में मन्त्रों की तरह प्रभावशाली बन गया
कारण यह है कि उन वाक्यों के पीछे उनके तपस्यापूर्ण जीवन का सार मौजूद
बापू के पत्रों के कुछ वाक्यों को लीजिये :—

"मैं जिसमें आत्मकल्याण समझता हूँ, उसका आचरण करते समय यदि अ
बलिदान किया जा सका, तो इससे श्रेष्ठ मृत्यु और क्या हो सकती है···
संसार क्षणभंगुर है। फिर यदि मेरा प्राण इस संसार से चला जाय तो
कार्यकारण का विचार मैं क्यों करता रहूँ ? मृत्यु तक मेरे हाथ से अ
कुछ भी न हो—इतनी इच्छा काफी है और बस इतनी ही चिन्ता होनी चाहि

(जोहान्सबर्ग) २२—५—१

एक बात सबके ध्यान रखने योग्य है, वह यह कि मृत्यु का रोकना हमारे
में नहीं है। इसीलिए शरीर का मोह छोड़कर परमार्थ में मस्त रहना
आत्मसिद्धि का सम्पादन करना चाहिए। ऐसा करने के लिए ब्रह्मचर्य एक उ
और आवश्यक साधन है।"

"शारीरिक दुःख ही एक मात्र सुख है—यदि यह समझ में आजाय तो मनुष्य अपना आत्मकल्याण कर सकता है।"

तुम पर जो मेरा उत्कट प्रेम है, उसके कारण—लोगों की दृष्टि में चाहे तुम चली जाओ, परन्तु फिर भी तुम मेरे लिए जीवित रहोगी। तुम्हारी आत्मा अमर है। मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि तुम्हारा अन्त हो जायगा तो, जैसा मैंने तुमसे अनेकों बार कहा है, मैं फिर दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करूँगा। परमात्मा पर विश्वास रखकर तुम सुख से प्राण छोड़ो। तुम्हारी मृत्यु भी सत्याग्रह का एक अंग ही है। मेरा युद्ध केवल राजनैतिक ही नहीं, वरन वह धार्मिक भी है और इसलिए अत्यन्त शुद्ध है। उसमें मर जायँ तो भी भला और जीते रहें तो भी भला।"

[पूज्य कस्तूरबा को लिखे गये ९ नवम्बर १९०८ के पत्र का अंश]

"जो मनुष्य अपना कर्त्तव्य करता रहता है, वह सदैव मानों अध्ययन ही करता रहता है।"

"अनुभव ही एक सच्ची पाठशाला है।"

"यह नहीं कहा जा सकता कि आज भी प्रह्लाद और सुधन्वा, हरिश्चन्द्र और श्रवण भारतवर्ष में नहीं हैं। हम योग्य बन जायँगे तब उनकी भेंट होगी। अवश्य ही वे बम्बई के भवनों में नहीं मिलेंगे। चट्टान में गेहूँ उपजने की आशा नहीं।"

फाल्गुन कृ० ४, १९६६

"सम्पूर्ण भारत के उद्धार का भार बिना कारण सिर पर मत लो। अपना निज का ही उद्धार करो। इतना भार काफी है। सब कुछ अपने व्यक्तित्व पर ही लागू करना चाहिए। हम स्वयं ही भारतवर्ष हैं—बस, यही मानने में आत्मा का बड़प्पन है।"

फाल्गुन कृ० ७, १९६६

ये वाक्य 'महात्मागांधी के निजीपत्र' नामक पुस्तक से उद्धृत किये गये हैं। यदि धृष्टता न समझी जाय तो मैं अपने निजीसंग्रह के भी कुछ पत्रों को यहाँ उद्धृत कर दूँ।

सन् १९३० में मेरे जीवन की एक बड़ी दुर्घटना घट गई। बापू उस समय यरवदा जेल में थे। भाई काशीनाथ त्रिवेदी ने उन्हें मेरी विपत्ति की सूचना भेज दी। तुरन्त ही बापू ने मुझे निम्नलिखित पत्र भेजा :—

"भाई बनारसीदास,

तुम्हारी धर्मपत्नी के देहान्त की खबर भाई काशीनाथ ने दी है। तुम्हारे शरीर पे यह बड़ी आपत्ति आई है। मृत्यु से तो हमने डर को छोड़ ही दिया है। दुःख

स्वार्थ का है। मैं समझता हूँ तुम्हारे छोटे बाल बच्चे हैं। परन्तु इससे भी दुःख क्यों माने ? ऐसी घटनाएँ जगत् में बनती ही रहती हैं। हमारी परीक्षा का ये सब घटनाएँ काल है। हमने परिश्रम करके जो ज्ञान पाया है वह हृदयगत हुआ है या नहीं उसकी कसौटी भी ऐसे मौके पर हो सकती है। ईश्वर तुमको शान्ति बक्षे।

य० मं० १६-१०-३० मोहनदास के वं० मा०

इस पत्र के उत्तर में महात्माजी को मैंने अपनी दुःखजन्य निर्बलता तथा आत्मग्लानियुक्त निराशा का विवरण लिख भेजा। उसके जवाब में बापू ने फिर मुझे लिखा :—

"भाई बनारसीदास,

इतना निराश होने का कोई कारण नहीं है। जो अपनी दुर्बलता का दर्शन करता है और उसे दूर करने की इच्छा रखता है उसका आधा काम तो बन गया। शेष जीवन सेवा में देने का संकल्प कल्याणकारी होगा। जो दुःख आ पड़ा है उसमें से बड़ी शक्ति पैदा कर लो। तुम्हारे सामने बहुत सेवाकार्य पड़े हैं। बालक अच्छा है जानकर सन्तोष होता है।

४-१-३१ बापू के आशीर्वाद

जब मेरे अनुज रामनारायण के स्वर्गवास की खबर महात्माजी को लगी तो उन्होंने मुझे निम्नलिखित पत्र भेजा :—

भाई बनारसीदास,

प्रभुदयाल ने तुम्हारे भाई के देहांत की खबर दी। तुम्हारे में ज्ञान है इसलिए आश्वासन की आवश्यकता कम है। जो रास्ते रामनारायण गये वही रास्ते हम सब को जाना होगा। समय का ही फरक है। उसमें शोक क्या ? लेकिन हाँ, प्रेमियों के मृत्यु से हमारी जिम्मेदारी बढ़ती है और तुम्हारी तो बहुत ही बढ़ गई। ईश्वर ऐसे मौके पर सच्चा मददगार है। वही तुमको मार्ग बतायगा।

सेगाँव वर्धा, १६—१०—३६ बापू के आशीर्वाद

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहले पत्र में बापू ने 'मोहनदास के वन्देमातरम्' लिखा था और शेष दोनों पत्रों में 'बापू के आशीर्वाद' इसका कारण यह था कि अपनी पत्नी की मृत्यु के पूर्व मैं सभी पत्रों में बापू को गांधीजी लिखा करता था। महात्माजी लिखना आश्रम के नियम के प्रतिकूल था। आश्रम में चार वर्ष व्यतीत करने के बाद भी 'बापू' शब्द के प्रयोग करने में मुझे अपनी क्षुद्रता के कारण संकोच होता था। अपने दुःख में जब मैंने उन्हें पहले-पहल 'बापू' नाम से पुकारा तब उन्होंने भी तदनुसार तुरन्त ही 'बापू के आशीर्वाद' लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसके बाद तो मुझे बापू के आशीर्वाद ही आशीर्वाद मिलते रहे।

जब मेरे पूज्य पिताजी का ८८-८९ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास हुआ तो मैंने उसकी सूचना का एक कार्ड बापू को भेज दिया। कक्का साबरमती आश्रम में रह आये थे और बापू के अनन्य भक्त थे। कक्का की बीमारी में मैंने उनसे पूछा था कि बापू को कुछ लिखाना है क्या? उन्होंने कहा:—"महात्माजी को लिख दो कि आप खूब खुश और तन्दुरुस्त रहें और आपकी मनोकामना पूर्ण हो।"

बापू ने अपने समवेदना के पत्र में लिखा था:—

सेवाग्राम, २७—१२—४४

भाई बनारसीदास,

पिताजी के स्वर्गवास से कुछ दुःख होना स्वाभाविक तो है लेकिन क्षण भर विचार करें तो हमें पता चलता है कि जो बिल्कुल अनिवार्य है उसका खेद क्यों? और मरता है कौन? जीव तो हरगिज नहीं, जिसके साथ हमारा सम्बन्ध था और है और रहेगा। पिताजी के अन्तिम वचन मुझे बहुत मीठे लगते हैं। मैं उसे आशीर्वादरूप से मानूंगा।

बापू के आशीर्वाद

यहाँ पर हम बापू के एक महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी पत्र को, जो उन्होंने दीनबन्धु एण्ड्रूज को भेजा था, ज्यों-का-त्यों उद्धृत करते हैं।

Calcutta,
29th. Jan., 19 21.

My dear Charlie,

You have inundated me with love letters and I have neglected you. But you have been ever in my thoughts and prayer. You had no business to get ill. You had therefore be better 'up and doing'. And yet on your sick bed you have been doing so much. For I see more and more that prayer is doing and that silence is the best speech and often the best argument. And that is my answer to your anxieties about the untouchables.

I look at the problem as an Indian and a Hindu: you as an Englishman and Christian. You look at it with the eye of an observer; I as an affected and afflicted party. You *can* be patient, I *cannot* or you as a disinterested reformer can afford to be impatient whereas I

as a sinner must be patient. If I would get rid of the sin I may talk glibly of the Englishman's sin in Jallianwalla. But as a Hindu I may not talk about the sin of Hinduism against the untouchables. I have to deal with the Hindu Dyres. I must act and have *ever* acted. You act, you do not speak, when you feel most .Not knowing Gujrati, you do not know how furiously the question is raging in Gujrat. Do you know that I have purposely adopted a Pariah girl ? There is today at Asharm a Pariah family again ? You are doing an injustice to me in even allowing yourself to think that for a single moment I may be subordinating the question to any other. But I need not give addresses or write in English upon it. Most of those, who form my audience, are not hostile to the Pariahs. I had the least difficulty about carrying the proposition about these in the Congress.

Moreover I cannot talk about things I do not know. The Namsudra question in Bengal, I know only superficially. It is perhaps not one of untouchability but of the Zamindar against the serfs. I am dealing with the 'sin' itself. I am attacking the sacredotalism of Hinduism. That Hindu considers it a sin to touch a portion of the human beings because they born in a particular environment. I am engaged *as a Hindu* in showing that it is not a sin and that it is a sin to consider that *touch* a sin. It is a bigger problem than that of gaining Indian Independence. But I can tackle it better, if I gain the latter on the way. It is not impossible that India may free herself from English Domination before India has become free of the curse of untouchability. Freedom from English Domination is one of

the essentials of Swaraja and the absence of it is blocking the way to all progress. Do you know that today those who are opposing me in Gujrat are actually supporting the Government and the latter are playing them against me ?

I began to think about you and the question at 2 A.M.—not being able to sleep I began to write to you at 4 A.M. I have not written all I want to say on the question. This is no apology. I have not been able to clear the point for you as it is clear to me. What you have written in your letter about students is right. You are thinking as an Englishman. I must not keep one thing from you. The *Gujrati* is endeavouring to weaken my position by saying that I have been influenced by *you* in this matter, meaning thereby that I am not speaking as a Hindu but as one having been spoiled by being under your influence. This is all rotten I know. I began this in S. A. before I ever heard of you and was conscious of the sin of untouchability before I came under other Christian influences in S.A. The truth came to me when I was yet a child. I used to laugh at my dear mother for making us bathe if we brothers touched any Pariah. It was in 1897 that I was prepared in Durban to turn Mrs. Gandhi away from the house becuase she would not treat on a footing of equality Lawrence who, she knew, belong to the Pariah clan and whom I had invited to stay with me. It has been a passion of my life to serve the untouchables because I have felt that I could not remain a Hindu if it was true that untouchability is a part of Hinduism.

I have only told you half the truth. I feel as keenly about the Kalighat as I do about the untouchables.

Whenever I am in Calcutta the thought of the goats being sacrificed haunts me and makes me uneasy. I asked Hira Lal not to settle in Calcutta on that account. The Pariah can voice his own grief. He can petition. He can even rise against Hindus, but the poor dumb goats? I sometimes writhe in agony when I think of it. But I do not speak or write about it. All the same I am qualifying myself for the service of these fellow-creatures of mine who are slaughtered in the name of my faith. I may not finish the work in this incarnation. I shall be born again to finish that work or some one who has realised my agony will finish it. The point is, the Hindu way is different from the modern way. It is the way of Tapasya. You do believe that the Christian way is not different from the Hindu. I am still not satisfied. That I have told you all that is just now rising to my pencil. But I dare say I have said sufficient for you to understand. Only please do not take this letter to be a complaint if it is not to be taken as an apology. Your reply to Sir William Vincent is perfect.

I know you will let Dr. Chiman Das go if he wishes to. What is wanted is for Santiniketan to come boldly for non-co-orperation in the religious sense. My fear is that Gurudev has not yet realised the absolute truth and the necessity of it.

I am likely to leave here on the fourth instant on my way to Delhi. I am in Benares on the 9th. I am sending a personel too, to Corbett. With deep love.

Yours

Mohan

पत्र का भावानुवाद निम्नलिखित है—

कलकत्ता २९ जनवरी

मेरे प्रिय चार्ली,

तुमने तो प्रेमपूर्ण पत्रों की बाढ़ सी ला दी और मैंने तुम्हारी उपेक्षा की है! लेकिन मुझे तुम्हारा बराबर ध्यान रहा है और प्रार्थना में भी तुम्हारा स्मरण करता हूँ। तुम्हें बीमार पड़ने की कुछ भी जरूरत न थी। बेहतर है कि अब आप भले चंगे होकर काम पर लगें। और आश्चर्य की बात यह है कि अपनी रोग-शय्या पर से भी तुम इतना अधिक काम करते रहे हो। क्योंकि अब तो यह बात मुझे अधिकाधिक प्रतीत होती जाती है कि प्रार्थना स्वयं एक कार्य ही है और मौन सर्वोत्तम भाषण ही नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ तर्क भी है। तुम्हें अछूतों के विषय में जो चिन्ता है उसका उत्तर सुन लो।

अछूतों के प्रश्न पर मैं एक भारतीय तथा हिन्दू की दृष्टि से विचार करता हूँ और तुम एक अँग्रेज तथा ईसाई की निगाह से। तुम एक दर्शक की हैसियत से उसे देखते हो और मैं एक भुक्तभोगी पीड़ित की भावना से। तुम भले ही धैर्य धारण कर लो, मैं हर्गिज नहीं। अथवा यों कहिये कि तुम तटस्थ सुधारक होने की वजह से धीरज खो भी बैठो, पर मुझे तो पापी की हैसियत से धीरज रखना ही पड़ेगा, यदि मैं अछूतपन के पाप को दूर करना चाहूँ तो। अँग्रेजों ने जलियानवाले बाग में जो महान् दुष्कर्म किया था, हलकेपन से उसकी चर्चा करना मेरे लिए आसान है, लेकिन हिन्दुओं ने अछूतों पर जो जुल्म ढाये हैं उनके विषय में मैं कोरमकोर बातें करके सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मेरा वास्ता तो हिन्दू डायरों से है। मुझे तो अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करना है और यही मैंने बराबर किया भी है। जब तुम काम करते हो, तब बोलते थोड़े ही हो। चूँकि तुम गुजराती नहीं जानते हो इसलिए तुम्हें इस बात का पता नहीं है कि अछूतों का प्रश्न कितने जोर-शोर के साथ गुजरात में उठ रहा है। क्या तुम्हें यह मालम है कि मैंने जान-बूझकर एक अछूत कन्या को गोद ले लिया है? आश्रम में फिर से एक अछूत कुटुम्ब रहने लगा है। अगर तुम ऐसा सोचते हो कि मैं एक क्षण के लिए भी अछूतों के प्रश्न को किसी दूसरे सवाल से नीचा दर्जा देता हूँ तो मेरे प्रति अन्याय करते हो। लेकिन इसके मानी यह नहीं है कि मैं अछूतों के प्रश्न पर भाषण देता फिरूँ अथवा अँग्रेजी में उस प्रश्न पर लेख लिखूँ। जो श्रोता लोग मेरे भाषणों को सुनने आते हैं वे अछूतों के विरोधी नहीं है। कांग्रेस में अछूतों के विषय में अपना प्रस्ताव पास करा लेने में मुझे बहुत ही कम मुश्किल पड़ी।

इसके सिवाय एक बात और भी है वह यह कि जिन चीजों का मुझे ज्ञान नहीं

है उनके वारे में मैं वात भी क्या कर सकता हूँ। बंगाल के नमः शूद्रों के वारे में मेरा ज्ञान वहुत उथला ही है। शायद नमः शूद्रों का प्रश्न अछूतपन का नहीं, वल्कि जमीदार और उनके दासों का है। मैं तो अछूतपन के पाप से ही लड़ रहा हूँ। मैं हिन्दू धर्म के धार्मिक घटाटोपों पर आक्रमण कर रहा हूँ—वह घटाटोप यह है कि हिन्दू लोग विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न मानव समाज के कुछ प्राणियों को छूने में भी पाप मानते हैं। एक हिन्दू की हैसियत से मेरा यह कर्तव्य है कि मैं लोगों को वतलाऊँ कि अछूतों को छूने में कोई पाप नहीं है, वल्कि अछूतों के स्पर्श को पाप समझना ही असली पाप है। अछूतों का प्रश्न भारतीय स्वाधीनता-प्राप्ति के प्रश्न से भी अधिक व्यापक है। लेकिन यदि अपना कर्तव्य करते-करते हमें भारतीय स्वाधीनता मिल जाय तो मैं अछूतों के प्रश्न को वेहतर तरीके पर हल कर सकता हूँ। यह असम्भव नहीं है कि अछूतपन के श्राप से मुक्त होने के पूर्व भारतवर्ष अँग्रेजी दासता से मुक्त हो जाय। स्वराज्य के लिये यह एक अत्यन्त आवश्यक वात है कि अँग्रेजों की पराधीनता से छुटकारा मिल जाय, क्योंकि स्वाधानता के विना उन्नति के सारे रास्ते रुके हैं। क्या तुम इस वात को जानते हो कि जो लोग गुजरात में मेरा विरोध कर रहे हैं वही दरअसल गवर्नमेंट के समर्थक हैं और गवर्नमेंट मेरे विरुद्ध उनका उपयोग कर रही है—उन्हें मुझसे भिड़ा रही है? मैंने तुम्हारे वारे में और इस प्रश्न पर भी रात को दो वजे विचार करना शुरू किया। नींद न आने के कारण चार वजे मैं तुम्हें यह चिट्ठी लिखने वैठ गया। फिर भी जो कुछ मुझे इस विषय पर कहना है उसे पूरा-पूरा नहीं लिख पाया। क्षमा-याचना के लिए मैं ऐसा कह रहा होऊँ, सो वात नहीं। दरअसल वात यह है कि जितनी स्पष्टता के साथ मैं खुद इस चीज को देख रहा हूँ उतनी स्पष्टता के साथ तुम्हें समझाने में असमर्थ हूँ।

तुमने अपनी चिट्ठी में विद्यार्थियों के विषय में जो कुछ लिखा है वह ठीक है। तुम एक अँग्रेज की हैसियत से विचार कर रहे हो और मैं एक वात तुम्हें विना वतलाये नहीं रह सकता। 'गुजराती' पत्र यह कहकर मेरी पोजीशन (स्थिति) को कमजोर करना चाहता है कि अछूतों के मामले में मैं तुमसे प्रभावित रहा हूँ। उस पत्र के कहने का मतलव यह है कि मैं इस विषय पर एक हिन्दू की हैसियत से नहीं वोल रहा, वल्कि तुम्हारे कुप्रभाव से भ्रष्ट होकर वोल रहा हूँ। 'गुजराती' का यह कथन विल्कुल वाहियात है, यह मैं जानता हूँ। मैंने अछूतों के विषय में तव कार्य प्रारम्भ किया था, जव कि मैं दक्षिण अफ्रिका में था। तव तो मैंने तुम्हारा नाम भी नहीं सुना था और मैं उस समय से अछूतपन के पाप से परिचित रहा हूँ, जव कि मैं दक्षिण अफ्रिका के अन्य ईसाइयों के प्रभाव में नहीं आ पाया

था। अछूतपन पाप है, इस सत्य का अनुभव मैंने तब किया, जब कि मैं केवल बालक ही था। मैं उस समय हँसा करता था जब कि मेरी प्यारी माँ मुझे तथा मेरे भाइयों को किसी अछूत के छू जाने पर हमें नहलाया करती थी। सन् १८९७ में मैं डरबन में श्रीमती गांधी (कस्तूर बा) को घर से निकालने के लिये तैयार हो गया था, क्योंकि वे लारेंस के साथ, जो अछूत जाति का था, समानता का व्यवहार करने के लिए उद्यत न थीं। लारेंस को मैंने अपने साथ ठहरने के लिए निमंत्रण दिया था। अछूतों की सेवा करना मेरे जीवन की एक उत्कट भावना रही है, क्योंकि मैं यह अनुभव करता रहा हूँ कि यदि अछूतपन सचमुच हिन्दू-धर्म का एक अंग है तो मैं हिन्दू नहीं रह सकता।

मैंने तुम्हें अभी आधी बात ही बतलाई है। कालीघाट के विषय में भी मैं उतनी ही तीव्रता से अनुभूति करता हूँ, जितनी कि अछूतों के विषय में। जब कभी मैं कलकत्ते आता हूँ तभी यह खयाल कि कालीघाट पर बकरों का बलिदान हो रहा है मुझे निरन्तर परेशान करता रहता है और उससे मैं उद्विग्न हो उठता हूँ। मैंने हरि लाल से कहा था कि तुम कलकत्त में मत रहो क्योंकि वहाँ बकरों का बलिदान होता है। अछूत लोग अपने दुःख की गाथा मुँह से सुना सकते हैं। वे अर्जी भेज सकते हैं। वे हिन्दुओं के खिलाफ विद्रोह भी कर सकते हैं, लेकिन बिचारे गूंगे बकरे ? उनका खयाल करते हुए कभी कभी तो मैं घोर पीड़ा में, अभिभूत हो जाता हूँ—छटपटाने लगता हूँ। लेकिन मैं इस बारे में भाषण नहीं देता, लिखता भी नहीं। मैं अपने इन साथी प्राणियों की सेवा करने के लिये, जो मेरे धर्म के नाम पर बलिदान किये जाते हैं, अपने को योग्य बना रहा हूँ। मैं इस जन्म में शायद इस काम को पूरा न कर सकूँगा, इसलिये मैं उसे पूरा करने के लिये फिर से जन्म लूंगा अथवा कोई ऐसा आदमी इसे पूरा करेगा, जिसे मेरी हार्दिक वेदना की अनुभूति होगी।

बात यह है कि हिन्दू मार्ग आधुनिक तरीके से भिन्न है। वह तपस्या का मार्ग है। तुम तो यह समझते हो कि ईसाई तरीका हिन्दू मार्ग से भिन्न नहीं है। मैं अब भी सन्तुष्ट नहीं हूँ। मेरी पैंसिल के साथ-साथ जो विचार उठ रहे हैं उन सब को मैं तुम्हें नहीं बतला सका हूँ। लेकिन मेरा यह विश्वास है कि मैंने इतना लिख दिया है कि उससे तुम्हारी समझ में सब बात आ जायगी। मेहर-बानी करके इस पत्र को शिकायत न समझ लेना और न क्षमा-याचना ही। सर विलियम विनसेण्ट को तुमने जो उत्तर दिया है वह बिल्कुल ठीक है।

मैं जानता हूँ कि यदि डाक्टर चिमनदास जाना चाहेंगे तो तुम उन्हें जाने दोगे। शान्तिनिकेतन को चाहिये कि दृढ़तापूर्वक धार्मिक दृष्टि से असहयोग के

क्षेत्र में उतर आवे। मुझे आशङ्का रही है कि गुरुदेव ने पूर्ण सत्य का और उसकी आवश्यकता का अभी तक अनुभव नहीं किया।

मैं यहाँ से शायद चार तारीख को दिल्ली के लिये रवाना होऊँगा। ९ ता: को मैं बनारस पहुँचूंगा। कार्वेट साहब को एक निजी पत्र भेज रहा हूँ।

गम्भीर प्रेम के साथ

तुम्हारा मोहन

इस लेख में नमूने के लिये महात्माजी के कुछ पत्रों के अंश और पाँच पत्र ही उद्धृत किये जा सके हैं। महात्माजी के कम से कम तीस चालीस-हज़ार पत्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। यदि हमारी राष्ट्रीय सरकार उन सब का संग्रह कराले और फिर विवरणात्मक टिप्पणियों के साथ उन्हें कई जिल्दों में छपा भी दे तो बापू की पत्र-लेखन-पद्धति पर पूरा पूरा प्रकाश तो पड़ेगा ही, साथ ही भारत के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के कार्य के लिये वे अमूल्य निधि भी सिद्ध होंगे।

आज से २७ वर्ष पूर्व सन् १९२१ में मैंने इस महत्वपूर्ण कार्य के प्रति अनेक साधनसम्पन्न महानुभावों का ध्यान आकर्षित किया था, पर मेरा प्रयत्न असफल रहा।

ईंट, पत्थर, चूना और सीमेण्ट को ही जो सब कुछ समझ बैठे हैं वे सरस्वती के इस विशाल मन्दिर की भावना को भला कैसे समझ सकेंगे? और वोट, चुनाव, मेम्बरी तथा मंत्रित्व के दलदल में फँसे नेतागण इस पुण्यसलिला साहित्य-सरिता के अवगाहन को क्या महत्व देंगे?

●

मैं शान्तिप्रिय मनुष्य हूँ। परन्तु सत्य एवं अहिंसा के विरुद्ध जाकर मैं किसी भी मूल्य पर शान्ति खरीदना नहीं चाहता। मैं ऐसी शान्ति नहीं चाहता जो जड़ पत्थर में होती है—मृत कब्र में होती है! मैं तो ऐसी शान्ति चाहता हूँ जो मानव के चेतन हृदय में बसी हुई होती है और जो सारे चिन्तनशील संसार के तर्क-बाणों के लिए खुली हुई होती है, परन्तु साथ ही सभी तरह की हानि से इसलिए सुरक्षित रहती है; क्योंकि उस पर सर्वशक्तिमान परमात्मा की शक्ति का प्रभाव है।

—म० गांधी

बापू

[सुश्री इंदुबाला देवी]

वह एक किरण ज्वलंत !
निकलकर नभपथ से अनजान
नव्य नक्षत्र समान
रवि-चुम्बित चल जलदों पर
करती दीप्ति प्रसार
देखा जग ने वह चिर विमल प्रकाश
हुआ विश्व में नूतन सभ्यता का शिलान्यास
भेद-भाव से मुक्त
एक राष्ट्र, एक धर्म
झंकृत भविष्य का सत्य हुआ स्वराकार
भ्रातृत्व प्रेम का पाठ पढ़ाने
वह एक किरण ज्वलंत !
निकलकर नभपथ से अनजान
नव्य नक्षत्र समान
धरा पर हुई अवतरित
हाड़ मास का जीव,
नहीं,
निष्क्रिय, लक्ष्य-शून्य मानव को--
चेतन-साधन
निर्धन का बल
मानव का आदर्श समुज्ज्वल
हृदय की श्रद्धा, भक्ति
सूक्ष्म चिर का गाते इतिहास
मानवी भावना का चरम विकास
जीवन-सिद्ध अहिंसक—
सत्यान्वेषक,
युग-स्रष्टा,

युग-द्रष्टा,
दलित देश—
पीड़ित मानव—
मूढ़, अशिक्षित, शोषित
क्षुधित निरस्त्र जनों के
सच्चे रक्षक,
नैतिकता के पोषक,
प्रगति के चिर विकास
गिरि से कठोर तू महामनुज !
कोमलता मधुर परागों की
अंतर में भर कर
स्निग्ध दृष्टि से जन मन हरने—
देख रहे तू
एक ध्येय रत,
सर्व एक मत
सदा सुखी हो,
जग का जनगण
यही तुम्हारा लक्ष्योज्ज्वल,
तू पुरुष पुरातन सहृदय मानव निश्चय।
तुम्हारे अंतस्तल में
उठा जो नवल शक्ति का ज्वार—
ज्वार वह मानवता का प्राण,
सत्य-सागर का ज्वार !
वह तो तेरे तप का फल।
प्रेम के कागज़ की गढ़ नाव
डाल कर सत्य-उदधि के बीच
अहिंसा की लेकर पतवार
चल पड़ा विश्व का निर्देशक
ढूँढ़ मानवता को लाने,
किंतु,
लक्ष्य से पहले ही दिनमान—
छिप गया अस्ताचल की ओर

बापू का बचपन

१४ साल की उम्र में

अपने अभिभावक के साथ

विलायत में विद्यार्थी-जीवन

दक्षिण अफ्रीका में बारिस्टरी करते हुए
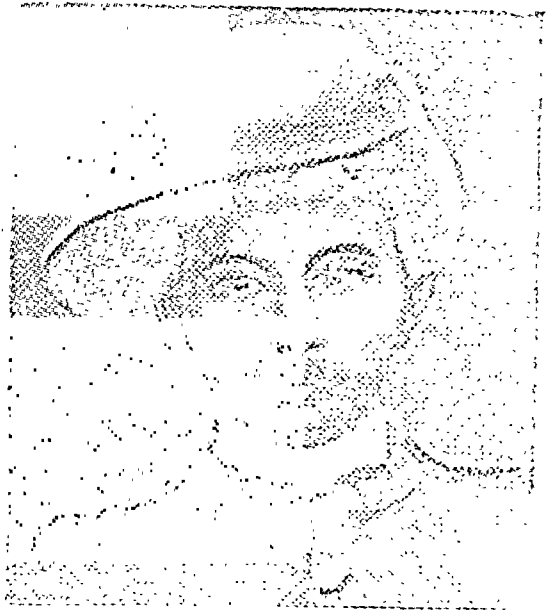
बोअर युद्ध में एम्बुलन्स कोर के साथ

नवदम्पति के रूप में

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रही गांधी
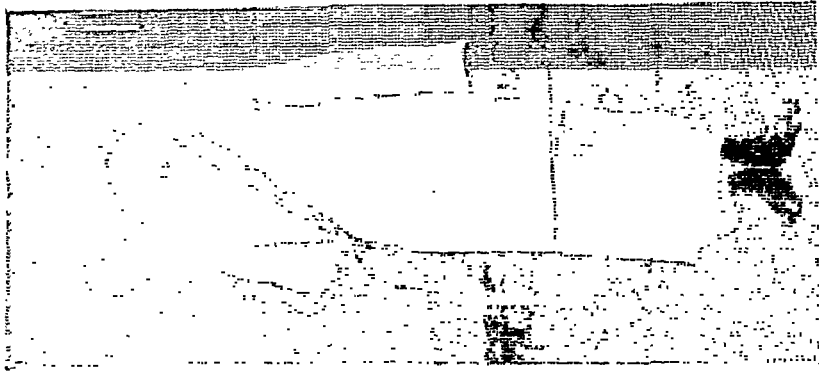
तरंगों से करती खिलवाड़,
तरणी रही भँवर में डोल
और छिप गया—
मेरा नाविक
किस महारात्रि के अंधकार में निद्रित—
नीरव, चेतना विहीन,
सुस्थिर,
विश्व को कर असहाय
वह एक किरण ज्वलंत !

हक्सले और गांधीजी

श्री विश्वम्भर नाथ शर्मा

महात्मा गांधी के विचार, कार्य्यकलाप एवं उनकी जीवनव्यापी साधना से जो परिचित हैं वे जानते हैं कि अन्यान्य राजनीतिक दलों के साथ साध्य को लेकर उतना मतभेद नहीं था जितना साधन को लेकर। साधन के ऊपर वह जोर दिया करते थे उतना साध्य की विभिन्न अवस्थाओं के ऊपर नहीं। वार नहीं अनेक वार उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि उनके लिये सा साध्य हैं। साधन की पवित्रता एवं सत्यता ही उनके लिये सब कुछ थी। में सिद्धिलाभ होगा या नहीं इस संवन्ध में भी वह उदासीन थे। ईश्वर के साधना का सिद्धिलाभ छोड़ कर साधना की विशुद्धता के ऊपर सतत ध्यान रख उनके जीवन का व्रत था। यही कारण है कि गांधी जी ने स्वराज्य की प या उसके स्वरूप-निर्देश के लिये विशेष परिश्रम कभी नहीं किया। उनके तो स्वराज्य की साधना ही स्वराज्य था। उन्हीं के शब्दों में . "It seem me that the attempt made to win Swaraj is Sw itself. The faster we run towards it, the longer seem be the distance to be traversed. The same is the with all the ideals." इसका अभिप्राय यह है कि "स्वराज्य लाभ प्रयत्न करना ही स्वराज्य है। जितना हो हम तेजी से स्वराज्य की ओर स्वराज्य हम से उतनी ही दूर बढ़ता चला जाता है। जीवन के सभी आद प्रति यही बात लागू होती है।" गांधी जी की इस विचार-धारा के साथ वर्तमान सभ्य युग की विचार-धारा की तुलना करें तो हमें मालूम होगा विचार-धारा में साध्य के औचित्य से ही साधन के औचित्य को ग्रहण किय है। Ends justify the means इस सिद्धान्त के प्रचारकों का व कि लक्ष्य या आदर्श अवश्य उच्च होना चाहिये, किन्तु उस आदर्श या लक्ष पहुँचने का मार्ग क्या होगा इस बात को लेकर वादविवाद या तर्कवितर्क कर है। अनीति एवं अन्याय, असत्य एवं हिंसा का आश्रय ग्रहण कर के भी आदर्श या लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। उच्चादर्श का जयगान दल के लोग करते हैं, किन्तु उस आदर्श तक पहुँचने का मार्ग क्या हो स इस बात को लेकर एक दल दूसरे दल को हेय सिद्ध करने की चेष्टा करत

इसके लिये छल, कपट एवं मिथ्याचार का आश्रय ग्रहण करना भी बुरा नहीं समझा जाता। साधन की पवित्रता एवं सत्यता पर ध्यान न देने का ही यह दुष्परिणाम है कि आज सब देशों का राजनीतिक जीवन अत्यन्त कलुषित हो गया है। एक दल दूसरें दल पर विश्वास नहीं करता और प्रत्येक दल अपने प्रतिस्पर्धी दल को नीचा गिराने के लिये सब प्रकार के असद उपायों का अवलम्बन करता है। केवल राजनीतिक जीवन में ही नहीं बल्कि जीवन के सभी क्षेत्रों में आज हम Ends justify the means इसी सिद्धान्त का अन्धभाव से अनुसरण कर रहे हैं जिससे जीवन की समस्यायें जटिल से जटिलतर होती जा रही हैं।

गांधी जी के समान ही वर्त्तमान यूरोप के एक चिन्तावीर तथा मनीषी ने आधुनिक सभ्य जगत का ध्यान इस प्रश्न की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया है। उनका नाम है अल्डस हक्सले। हक्सले इस युग के एक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक एवं श्रेष्ठ विचारक के रूप में सारे यूरोप और अमेरिका में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। कई साल पहले उन्होंने Ends and Means नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिस में उन्होंने वर्त्तमान सभ्य जगत की समस्यायें और उनके समाधान को लेकर गम्भीर चिन्तन का परिचय दिया है। इस पुस्तक को पढ़ कर हम हक्सले और गांधी जी के विचारों में जो सादृश्य है उस पर चकित हुए बिना नहीं रह सकते। पुस्तक के आरम्भ में ही हक्सले ने साध्य और उसके साधन पर विचार करते हुए बताया है कि मानव प्रयत्नों का लक्ष्य क्या होना चाहिये इस संबन्ध में आदि युग के पैगम्बर से लेकर कार्ल मार्क्स तक जितने मानवजाति के हितैषी एवं पथप्रदर्शक हुए हैं सबने एकही वाणी की घोषणा की हैं। सब ने उस स्वर्णयुग की कल्पना की है और उसे वास्तव रूप देने का प्रयत्न किया है जिसमें पृथ्वी पर स्वतंत्रता, शान्ति, न्याय और भाई-भाई की तरह प्रेम का राज्य होगा। किन्तु इस लक्ष्य तक पहुंचने का कौन सा मार्ग उत्तम हो सकता है इस बात को लेकर जितना अनैक्य, मतिभ्रम और विचार-संघर्ष पाया जाता है उतना और किसी बात को लेकर नहीं। और ऐसा क्यों होता है ? इस लिये कि प्रत्येक दल अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये किसी भी मार्ग या साधन को उचित समझता है। यह जानते हुए भी कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिय वह जिस साधन का प्रयोग कर रहा है वह घृणित है, फिर भी लक्ष्य की दृष्टि से साधन के औचित्य पर जोर देता है। किन्तु इस प्रकार मान लेने का अर्थ यह हुआ कि हम इस बात पर विश्वास करें कि असद साधनों का प्रयोग कर के भी सदुद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है। महात्मा गांधी की तरह हक्सले भी इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करके हम वास्तविक रूप में समाजसुधार नहीं कर सकते। उन्होंने लिखा है:

"Violence can produce only the effects of violence; these effects can be undone only by compensatory non-violence after the event; where violence has been used for a long period, a habit of violence is formed and it becomes exceedingly difficult for the perpetrators of violence to reverse their policy." हिंसा का परिणाम केवल हिंसा ही हो सकता है। और इस परिणाम का निराकरण तभी हो सकता है जब कि हिंसा की क्षतिपूर्ति के लिये अहिंसा का आश्रय लिया जाय। जहाँ अधिक समय तक हिंसा का प्रयोग किया गया है वहाँ हिंसा का अभ्यास हो जाता है और हिंसा करने वालों के लिये अपनी हिंसात्मक नीति का परित्याग करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।" हिंसा का भय दिखाकर समाज-सुधार संबन्धी जो कार्य्य कराये जाते हैं वे अन्त में स्वत: अपनी निरर्थकता सिद्ध कर देते हैं।

महात्मा गांधी का यह निश्चित विचार था कि सब प्रकार की मानव प्रगति की एक ही कसौटी हो सकती है और वह यह कि नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य की उन्नति हुई है या नहीं। दूसरे शब्दों में उसका हृदय उदार एवं अन्तर विशाल हुआ है या नहीं। इस दृष्टि से यदि हम आज की मानव प्रगति पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि मनुष्य-मनुष्य और जाति-जाति के बीच आज जितना अप्रेम और घृणा-द्वेष देखा जाता है उतना और पहले कभी नहीं देखा गया था। अन्तर्राष्ट्रिय व्यवहारों में आज सत्य के लिये कोई स्थान ही नहीं रह गया है। ज्ञान की दिशा में मनुष्य जितना ही अग्रसर हुआ है प्रेम की दिशा में वह उतना ही पीछा पड़ता गया है। प्रेमहीन ज्ञान-विज्ञान आज मानव सभ्यता के लिये भयंकर अभिशाप सिद्ध हो रहा है। हक्सले का भी यह मत है कि उदारता और सत्यनिष्ठा की दृष्टि से मनुष्य का आज जैसा अध:पतन हुआ है वैसा विश्व के इतिहास में कभी नहीं देखा गया था। उन्होंने लिखा है :— "At no period of the world's history has organized lying been practised so shamelessly or, thanks to modern technology, so efficiently or on so vast a scale as by the political and economic dictators of the present century." अर्थात् वर्त्तमान शताब्दी में जो लोग राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्र में सर्वेसर्वा बन बैठे हैं वे जिस प्रकार निर्लज्ज भाव से संगठित रूप में मिथ्या का प्रचार करते हैं उतनी निपुणता के साथ व्यापक रूप में मिथ्या-प्रचार और किसी युग में नहीं देखा गया था।" और यह मिथ्या-प्रचार इसलिये किया जाता है जिससे मनुष्य के मन में अन्य जातियों के प्रति घृणा और अपनी जाति के लिये अभिमान की भावना प्रवेश करा कर उसे युद्ध के लिये तैयार किया जाय। मिथ्यावादियों का मुख्य उद्देश्य

यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रिय राजनीति में मनुष्य अपने मन और आचरण से उदार भावनाओं को सर्वथा वहिष्कृत कर दे और उनके स्थान पर घृणा एवं हिंसा-भाव का पोषण करे।

तो फिर वर्त्तमान समाज के स्थान पर उस आदर्श समाज की स्थापना किस तरह हो सकती है जिसका वर्णन युग-युग में महापुरुषगण करते आ रहे हैं ? इस समय के औसत इन्द्रिय-सुख-परायण और अपवाद-स्वरूप कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को किस प्रकार ऐसे सत्यशील और वासनामुक्त मनुष्यों में परिणत किया जा सकता है जिससे वर्त्तमान समाज की अपेक्षा उन्नत समाज की स्थापना हो सके इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हक्सले ने इस बात पर जोर दिया है कि आदर्श समाज के लिये आदर्श मनुष्यों की सृष्टि करनी होगी। और ये आदर्श मनुष्य कौन होंगे ? इस प्रकार के आदर्श मनुष्य होंगे अनासक्त मनुष्य। इन अनासक्त मनुष्यों की व्याख्या करते हुए हक्सले ने लिखा है :— "The ideal man is the non-attached man. Non-attached to his bodily sansation and lusts. Non-attached to his craving for powers and possessions. Non-attached to the objects of these various desires. Non-attached to his anger and hatred; non-attached to his exclusive loves. Non-attached to wealth, fame, social position. Non-attached even to science, art, speculation, philanthropy. Yes, non-attached even to these." यह आदर्श मनुष्य दैहिक सुखानुभूति एवं कामवासना के प्रति अनासक्त होगा। क्षमतालाभ और संपत्ति के प्रति भी उसके मन में आसक्ति नहीं होगी। काम्य वस्तुओं के प्रति भी वह अनासक्त रहेगा। क्रोध, घृणा और अपने प्रिय पात्रों के एकमात्र प्रेम के प्रति भी अनासक्त। धन, यश, सामाजिक मान-प्रतिष्ठा इन सब के प्रति भी अनासक्ति। विज्ञान, कला, परोपकार इन सबकी आसक्ति से भी रहित। हक्सले के इस आदर्श मनुष्य में हम गांधीजी के अनासक्त कर्मयोगी की ही प्रतिध्वनि पाते हैं। गांधीजी ने गीता की टीका "अनासक्ति योग" नाम से की है और उसमें अनासक्त कर्मयोगी के जो सब विशिष्ट लक्षण बताये गये हैं उन्हीं लक्षणों का निर्देश हक्सले ने भी अपने आदर्श मनुष्य में किया है।

वर्त्तमान यंत्र सभ्यता के संबन्ध में गांधीजी के क्या विचार थे यह पाठकों से छिपा नहीं है। यह सच है कि गांधीजी सब प्रकार के यंत्रों के विरुद्ध नहीं थे किन्तु उनका यह निश्चित मत था कि यंत्रों को उपास्य देवता मानकर उनका अन्धानुसरण तथा कल-कारखानों की अत्यधिक वृद्धि देश और समाज के लिये कदापि कल्याणजनक नहीं

हो सकता। यही कारण है कि उन्होंने भारतवर्ष को यंत्र सभ्यता की प्रतियोगिता में दौड़ लगाने से बार-बार निषेध किया है। हक्सले का भी यह विश्वास है कि यंत्रों का अन्ध उपासक बनकर यूरोप जिस प्रगति-पथ पर चल रहा है उसका परिणाम अन्तर्राष्ट्रिय प्रतिद्वन्द्विता और युद्ध के सिवा दूसरा कुछ होहीं नहीं सकता। अपने एक उपन्यास में उन्होंने लिखा है :—Industrial progress means over-production, means the need for getting new markets, means international rivalry, means war." अर्थात् औद्योगिक उन्नति का अर्थ है अत्यधिक उत्पादन; अत्यधिक उत्पादन होने पर उसकी खपत के लिये नये-नये बाजार चाहिये। नये-नये बाजार प्राप्त करने के लिये राष्ट्रों के बीच प्रतिद्वन्द्विता और अन्ततः युद्ध अवश्यम्भावी हैं। यंत्र सभ्यता के दुष्परिणामों के संबन्ध में ठीक यही युक्ति गांधी जी भी उपस्थित किया करते थे। मनुष्य के जीवन में यंत्रों की प्रधानता होने से मनुष्य आज यंत्र का दास बन गया है। यंत्र साधन न बनकर उसके जीवन का साध्य बन गया है। जीवन के ऊपर यंत्रों का यह जो आधिपत्य है इस आधिपत्य का ही गांधीजी ने विरोध किया है न कि यंत्र मात्र का। और यह विरोध इसलिये कि यंत्रों के बहुल प्रचार से मनुष्य में सृजन-शक्ति का ह्रास होगा और मानव प्रकृति के जो सजीव एवं मौलिक उपादान हैं उनका उपयोग न होने से वे क्रमशः क्षयिष्णु होते जायँगे। इसलिये यंत्रप्रधान सभ्यता की परिणति सामाजिक विप्लव के रूप में अनिवार्य है। यंत्र सभ्यता के इसी दुष्परिणाम का उल्लेख हम हक्सले के इन वाक्यों में पाते हैं :— "Mechanical progress means more specialisation and standardization of work, means more intellectualism and the progressive atrophy of all the vital and fundamental things in human nature, means increased boredom and restlessness, means finally a kind of individual madness that can only result in social revolution."

विभिन्न देशों में इस समय जो शासन-विधान प्रचलित है उन सब की एक विशेषता यह है कि शासन सत्ता सर्वोच्च शासकों के हाथों में निहित रहती है। केन्द्रीय शासन से ही सत्ता नीचे की ओर हस्तान्तरित होती है। गांधी जी ने स्वाधीन भारतवर्ष के लिये जिस शासन-विधान की कल्पना की थी उसमें ग्रामों को ही शासन-सभा का केन्द्र माना गया था। गांधी जी सब प्रकार के शासन तथा उद्योग-धन्धों के विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। उनकी धनोत्पादन की योजना में ग्रामों को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रत्येक ग्राम को अपनी आवश्यकताओं के संबन्ध में आत्मनिर्भरशील बनना पड़ेगा और शासन-क्षमता केन्द्र से अपसारित होकर क्रमशः

नीचे की ओर Centrifugal आयेगी। इस प्रकार स्वायत्त शासनभोगी ग्रामीण समाजकी कल्पना करते हुए गांधी जी ने अपने २७-७-४२ के 'हरिजन' पत्र में लिखा था: Any village can become such a republic today without much interference even from the present government whose sole effective connection with the villagers is the exaction of village revenue. My purpose is to present an outline of village government. Here there is perfect democracy based upon individual freedom. The individual is the architect of his own government. अर्थात कोई भी गाँव बिना केन्द्रीय सरकार के विशेष हस्तक्षेप के इस समय भी प्रजातंत्र के रूप में परिवर्तित हो सकता है। मेरा उद्देश्य है ग्रामीण स्वायत्त शासन की एक रूपरेखा उपस्थित करना। इस प्रकार के स्वायत्त शासनभोगी ग्रामीण समाज में वैयक्तिक स्वतंत्रता के आधार पर पूर्ण जनतंत्र होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सरकार का निर्माता होगा।" हक्सले भी शासन-सत्ता के सम्बन्ध में विकेन्द्रीकरण की नीति में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि शासन सभा के अति केन्द्रीकरण से व्यक्ति विशेषों के मन में यह धारणा बद्धमूल होने लगती है कि वेही राज हैं। जिस देश की शासन-सत्ता जितनीही अधिक केन्द्रीय और सर्वशक्तिसंपन्न होगी वह देश उतनाही अधिक युद्धप्रिय होगा। "Extreme centralization of power creates opportunities for individuals to believe that the state is themselves.........A country which possesses a highly centralised, all-powerful executive is more likely to wage war than a country where power is decentralized and the population genuinely governs itself."

भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध संग्राम करने के लिये गांधी जी ने देशवासियों के हाथों में असहयोग और भद्र अवज्ञा-आन्दोलन Civils Disobedience Movement रूपी अमोघ अस्त्र दिये और इन अस्त्रों का प्रयोग करके ही देश विदेशी शासन के पाश से मुक्त हुआ। यों स्वयं तो गांधी जी सब प्रकार के पशुबल की तुलना में अहिंसा को सर्वोच्च शक्ति मानते थे और इसकी अव्यर्थता में उन्हें अखण्ड विश्वास था, किन्तु जो लोग अहिंसा की इस सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास नहीं करते उनके लिये भी गांधी जी की यही सलाह थी कि वर्त्तमान समय में हर देशकी सरकार अपने को पुलिस और फौज तथा भयानक अस्त्र-शस्त्रों से जिस तरह सुरक्षित रखती है उस में उसके अत्याचारों के विरुद्ध आत्मरक्षा करने का एक मात्र उपाय जनसाधारण

के लिये यही हो सकता है कि वह सरकार के विरुद्ध असहयोग करने और स
ही इसके किसी प्रकार की हिंसा न करने का संकल्प ग्रहण कर ले। हक्सले
भी अपना यह विश्वास प्रकट किया है कि वर्त्तमान युग के निष्ठुर से निष्ठुर डिक्टे
को यदि ऐसे विशाल जनसमूह का सामना करना पड़े जिसने अनीति एवं अन्य
के साथ किसी प्रकार का सहयोग न करने और अहिंसक बने रहने का संकल्प ग्रह
कर लिया हो तो उसका कुछ भी वश नहीं चल सकता। क्योंकि स्वेच्छाचारमूल
शासन चाहे कितना ही निर्मम क्यों न हो उसे कायम रखने के लिये जनता
समर्थन चाहिये ही। और ऐसी कोई भी सरकार नहीं हो सकती जो बहुसंख्
अहिंसक मनुष्यों को जेल में बंद करके या उनकी हत्या करके जनता का समर्
बनाये रखने की आशा करे। Confronted by huge mass
determined not to co-operate and equally determined n
to use violence, even the most ruthless dictatorship
non-plussed. Moreover, even the most ruthless dictato
ship needs the support of public opinion and no governme
which massacres or imprisons large numbers of system
tically non-violent individuals can hope to retain su
support.

फ्रायड के मनोविश्लेषण विज्ञान की बदौलत एक और सिद्धान्त जो
समय धूमकेतु की तरह मानव सभ्यता के आकाश में उदित हो रहा है वह है का
वासना का अवदमन। इस सिद्धान्त की आड़ में ब्रह्मचर्य और संयम के आ
का मखौल उड़ाया जाता है और यौन जीवन में अबाध भोग एवं इंद्रियपरायण
को प्रश्रय दिया जाता है। संयम का आदर्श व्यक्ति और समाज दोनों के लिये कल्या
कर है इस संबन्ध में गांधी जी का मत बिलकुल स्पष्ट था। संयम के इस आ
को गांधी जी इतना अधिक महत्व देते थ कि सन्तान-निग्रह के लिये भी वह एकम
संयम के आदर्श का ही समर्थन करते थे ; अन्य कृत्रिम उपायों द्वारा सन्तान-नि
का विरोध वह इसलिये करते थे कि इससे यौन जावन में उच्छृङ्खलता फैल जायग
'हरिजन' पत्र में सन्तान-निग्रह के प्रसंग में गांधी जी ने लिखा था : "For m
"brahmacharja" in married life now assumes its natu
and inevitable position and becomes as simple as the f
of marriage itself.........It is now easy to understand w
the scientists of old have put such great value upon t
vital fluid and why they have insisted upon its strong tra

mutation into the highest form of energy for the benefit of society." इसका अभिप्राय यह हुआ कि विवाहित जीवन में भी गांधीजी ब्रह्मचर्य्य पालन को सर्वथा स्वाभाविक और अपरिहार्य्य समझते थे। प्राचीन काल के वैज्ञानिकों ने वीर्य्यरक्षा पर जो इतना अधिक जोर दिया है वह इसलिये कि इसके द्वारा मनुष्य उच्चतम शक्ति प्राप्त करके समाज का कल्याण कर सकता है। हक्सले ने भी अपनी उपर्युक्त पुस्तक में नर-नारी के यौन सम्बन्ध पर विशद रूप से विचार किया है और अनन्तः इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पशु-जीवन से श्रेष्ठ नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिये संयम एक आवश्यक और पहली शर्त है। उन्होंने लिखा है "Chastity is the necessary pre-condition to any kind of moral life superior to that of the animal." अपनी इसी पुस्तक में एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है, "Chastity is one of the major virtues in as much as, without chastity, societies lack energy and individuals are condemned to perpetual unawareness, attachment and animality." अर्थात संयम एक वहुत बड़ा गुण है। विना संयम के समाज हीनवीर्य्य बन जाता है और व्यक्ति भोगपरायण वन कर अन्य मनुष्यों के साथ अपने आत्मीयता-बोध को खो बैठता है। वह कामवासना के दल-दल में फंस कर पशुवत् वन जाता है।" आगे चल कर हक्सले ने यह भी लिखा है कि जो समाज यौन जीवन में उद्दाम वासना को संयत रखने में जिस हद तक समर्थ होता है उसके अनुपात से ही वह संस्कृति की दिशा में अग्रसर होता है। अब तक जो मनुष्य धर्म, नीति, दर्शन, कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में सृजन करने में समर्थ हुआ है वह अपनी उद्दाम कामवासनाओं को संयत रखने की शिक्षा प्राप्त करके ही। अन्यथा वह आदिम युग के बर्व्बर जीवन से ऊपर उठ कर आज के सभ्य जीवन के उच्च स्तर पर नहीं पहुँचा होता। संयम के आदर्श को ग्रहण करके ही मनुष्य अपनी सृजन-शक्ति द्वारा मानव सभ्यता एवं संस्कृति को समृद्ध बनाने में सफल हुआ है।

लेखविस्तार के भय से अब इस प्रसंग को आगे बढ़ाना नहीं चाहता। महात्मा गांधी और अल्डस हक्सले इन दो मनीषियों के विचारों की ऊपर जो तुलनात्मक आलोचना की गयी है उससे पाठकों को सहज ही इस बात का ध्यान हो सकता है कि दोनों के विचारों में कितना साम्य है और दोनों ने मानव जाति के कल्याण के लिये वर्त्तमान युग की कतिपय आवश्यक समस्याओं पर किस प्रकार समान रूप से विचार किया है और उनके समाधान के लिये उपाय सुझाये हैं। अँगरेजी का

यह कहावत कि Great minds think a like अर्थात महान् विचारक एक समान ही विचार किया करते हैं इन दोनों के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। इस सम्बन्ध में पाठकों को यह भी जान रखना चाहिये कि हक्सले में यह मानसिक विकास क्रमशः हुआ है। आरम्भ में आपने जो उपन्यास लिखे थे उन म आधुनिक युग की विचारधाराओं की ही हम गूंज पाते हैं और किसी समय आप अपने आधुनिक विचारों के कारण तरुण समाज के अत्यन्त समादृत लेखक बने हुए थे। किन्तु आपमें आरम्भ से ही वह प्रतिभा विद्यमॉन रही है जो अतीत को अतिक्रमण करके नये विचारों और गुणों का यथार्थ मूल्यावधारण कर सकती है। यही कारण है कि जीवन में विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करके आपने जीवन के शाश्वत सत्यों का नूतन रूप में मूल्याङ्कन ही नहीं किया है वल्कि मानव जीवन में उनकी जो फलदायक सम्भावनायें हैं और उनमें जो क्षमता है उसे भी प्रमाणित कर दिखाया है। हक्सले भी गांधी जी के ही समकालीन है, इस लिये कौन कह सकता है कि वह भी वर्त्तमान युग के अन्यान्य चिन्तनवीरों की तरह गांधी जी की विचारधारा से प्रभावित न हुए हों।

•

व्रत लेना दुर्वलता का परिचायक नहीं है, वह वल का ही परिचायक है। कोई कार्य्य करना यदि उचित है, तो उसे करना ही चाहिये, इसी का नाम व्रत है और इसी में शक्ति है। इसे व्रत नाम न दे कर यदि और कोई दूसरा नाम दें तो इसमें भी क्षति नहीं। किन्तु "जहाँ तक हो सकेगा करूंगा" इस तरह की वात जो करता है, वह अपनी दुर्वलता या अभिमान का परिचय देता है। वह यदि इसे नम्रता समझता है तो समझे, किन्तु इसमें नम्रता का लेश मात्र भी नहीं है। शुभ संकल्प के सम्बन्ध में "जहाँ तक हो सकेगा" इस तरह का वाक्य विष की तरह है। इसे मैंने अपने जीवन और दूसरे के जीवन में भी देखा है। "जहाँ तक हो सकेगा करूँगा" का अर्थ है पहले ही असुविधा के गर्त्त में पतन स्वीकार कर लेना। "जहाँ तक हो सकेगा" सत्य पालन करूँगा" इस प्रकार के वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं होता।

म० गांधी

युगावतार गान्धी जी

श्री विष्णु प्रभाकर

मनुष्य का विकाश एक विवादास्पद विषय है परन्तु साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि सृष्टि की प्रारम्भिक स्थिति में मनुष्य की विशेपता उसका शारीरिक वल तथा शरीर की अन्य क्रियायें थीं परन्तु आज जो मनुष्य है उसकी विशेपता वुद्धि है। वुद्धि के अनेक प्रयोगों से वह संघर्ष करता हुआ निरन्तर आगे वढ़ रहा है और भविष्य का आभास पाने वाले मनीपी कहते हैं एक दिन मनुष्य शारीरिक विशेपताओं की तरह वुद्ध की विशेपताओं का परित्याग करके शान्त और संमेलित (Harmonious) जीवन को प्राप्त करेगा। भविष्य के विषय में निश्चय रूप से कुछ कह सकने की वात नहीं उठती, परन्तु इन-तीनों वर्वर, नैतिक और आध्यात्मिक-अवस्थाओं में, जिनके अनुसार उसे वनमानुष, मानुष और अतिमानुष की संज्ञा मिली है, एक तत्त्व सामान्य है; वह तत्त्व है धर्म। व्यास ने वताया है— प्रकाश लक्षणां देवा मनुष्या कर्म लक्षणा (अश्व ४३२०) कर्म के कारण मनुष्य देवता हो जाता है। लेकिन व्यास ही क्यों कर्म को लेकर पाश्चात्य और पौर्वात्य साहित्य के प्रत्येक युग में मनीषियों ने मनुष्य से उसका सम्वन्ध वताया है। वेद में लिखा है— 'मेरे दाहिने हाथ में कर्म है वायें में जय।' —(कृतम् मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित: (अथर्व ७, ५२, ८) गीता कर्मयोग की व्याख्या है उसके अनुसार कर्म मनुष्य का अधिकार है। गेट का आदर्श मनुष्य के लिये— "कर्म ही सव कुछ है यश या कीर्ति कोई चीज नहीं है।" कार्लायल कर्म को पूजा मानते हैं। ऐसे मन्तव्यों की कोई संख्या नहीं है। वे असंख्य हैं इसलिये सर्वमान्य और सामान्य हैं।

कर्म के अनुसार मनुष्य को दो मार्गों में वाँटा जा सकता है। वाल्मीकि ने रामायण में दो प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है। एक अल्प-सत्व अर्थात हीन पराक्रम वाले साधारण मनुष्य हैं। दूसरे वे वीर और चरित्रवान व्यक्ति हैं जो धर्म और सत्य के आदर्शों को कर्म के मार्गों से अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर दिखाते हैं। विश्व के सभी महापुरुप जिन्हें हम अतिमानव भी कह देते हैं (यद्यपि वे श्री अरविन्द के अतिमानव से भिन्न है क्योंकि उस अतिमानव का प्रादुर्भाव अभी होना है) इसी दूसरी श्रेणी में आते हैं परन्तु सभी महापुरुप एक ही प्रकार के नहीं होते हैं। रवि ठाकुर ने काव्य के दो विभाग किये हैं—एक वह जिसमें केवल कवि की वात होती है और दूसरा वह जिसमें किसी वड़े सम्प्रदाय या समाज की वात होती है। यह विभाग गुण दोप पर आश्रित नहीं है वल्कि इसका सम्वन्ध सामर्थ्य से है। कवि

की बात में "कवि के अपने सुख दुख अपनी कल्पना में से सारे मनष्यों के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन का मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो जाती हैं।" दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं "जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश एक सारा युग अपने हृदय को और अपना अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना का सदा के लिये समादरणीय सामग्री बना देता है।" ठीक इसी प्रकार महापुरुषों की भी दो श्रेणियां होती हैं। एक श्रेणी में वे महापुरुष होते हैं जिन पर काल और सीमा का बन्धन है। उनका प्रभाव तत्कालीन होता है और उनका कार्य क्षेत्र देश का सीमा से बाहर नहीं जाता। अधिकांश महापुरुष इसी श्रेणी में आते हैं परन्तु दूसरी श्रेणी के महापुरुष किसी तरह का बन्धन नहीं मानते। उन्हें न काल बांधता है न सीमा उनके कार्य क्षेत्र पर अंकुश लगा सकती है। वे सब देशों और सब कालों में एक समान मान्य होते हैं। ऐसे काल पुरुष युगों के पश्चात धरती पर जन्म लेते हैं। जब लेते हैं तो धरती सनाथ हो जाती है। वे काल पुरुष इतने शक्तिशाली और इतने ऊंचे होते हैं कि तत्कालीन हीन पराक्रम वाले मनुष्य उन्हें मानव न मान कर मानवेतर प्राणी मानने लगते हैं। उनकी असमर्थता और पंगुता उन काल पुरुषों को भगवान का अवतार, दूत, अथवा पुत्र बना देती है। आर्य जाति के महा-पुरुष राम, कृष्ण और बुद्ध इसी कारण भगवान के अवतार बन गये। ईसाइयों ने ईसा को परमात्मा का बेटा माना और मुसलमानों ने हजरत मोहम्मद को खुदा का पैगम्बर। यह सब इसलिये नहीं होता कि हम उन कालपुरुषों का अभिनन्दन करते हैं बल्कि अधिक इसलिये होता है कि हम उनके बताये मार्ग पर चलने यें अपने को असमर्थ पाकर उसपर किसी रहस्य का पर्दा डाल देना चाहते हैं। वे जो कुछ कर सके थे वह उनका ही अधिकार था क्योंकि वे मानवेतर थे। शेष जो हैं मानव हैं और मानव में मानवेतर की न तो कर्मनिष्ठा हो सकती है, न क्रान्त दृष्टि।

लेकिन भारतीय इतिहास का जिन्होंने अध्ययन किया है वे इसबात को स्वीकार करेंगे कि महापुरुषों को अवतार मानकर भी आर्य जाति के विद्वानों ने मनष्य की महत्ता की प्राण-प्रतिष्ठा करने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा है। व्यास ने ता बड़ी गम्भीरता से मानो विश्व के कान में फुसफुसाकर कहा—मैं तुम्हें यह रहस्य-ज्ञान बताता हूं कि मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है गुह्यं ब्रह्म तदिदंब्रवीमि नहि मानुषात श्रेष्ठतरं हि किंचित। (शान्ति १८०।१२) "इनसे भी पहिले बाल्मीकि ने मनुष्य की गौरव-गरिमा के गीत गाये हैं। अपने काव्य के लिये उन्हें जिन गुणों से युक्त नायक की खोज थी उन्हीं को गिनाकर उन्होंने नारद से पूछा—"देवर्षि! मूर्तिमति समग्र लक्ष्मी ने किस एक मात्र मनुष्य का आश्रय लियाहै।" तब नारद ने कहा,

से पूर्ण हैं उनकी बात सुनो।" रामायण उसी नरचन्द्र की अमर कहानी है। यह आश्चर्यजनक बात है कि मनुष्य की प्राण-प्रतिष्ठा उन्ही मनीषियों द्वारा हुई है जिनके काव्य के नायक आगे चलकर भगवान् के अवतार माने गये हैं। वाल्मीकि रामायण के राम तथा महाभारत के कृष्ण अवतार बन चुके थे यह विवादास्पद विषय है। बहुत से विद्वान इस बात को मानते हैं कि अपने जीवन काल में न राम भगवान का अवतार बने थे न कृष्ण। रवि ठाकुर ने लिखा है—"रामायण में देवता अपने को हीन बना कर मनुष्य नहीं हुआ है बल्कि मनुष्य ही अपने गुणों से उच्च होकर देवता हो गया है। मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना करने के लिये ही कवि ने इस काव्य की रचना की है।" व्यास के काव्य के बारे में यह और भी सत्य है कि उनकी कथा का केन्द्र मनुष्य है। उनका नरचन्द्र आदर्शवादी नहीं है। वह नीतिज्ञ है। वह बार-बार असफल होता है परन्तु एक बार भी अपनी असफलता पर उसे खीज नहीं होती बल्कि उस ओर से चिन्ताविहीन वह अपने पथ पर बढ़ता रहता है मानो प्रत्येक निराशा में से वह मनुष्य का जय-घोष करता है कि मनुष्य कभी हार नहीं मानेगा। कर्म की जो महत्ता व्यास के नायक ने स्थापित की उसका उदाहरण वह स्वयं ही हैं। उद्देश्य और साधन को लेकर विवाद किये बिना यह बात मान लेने में कोई हानि नहीं है, परन्तु फिर भी एक बात कही जा सकती है। मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है और मनुष्य के चूड़ान्त आदर्श की स्थापना के लिये वाल्मीकि और व्यास ने अपने काव्यों की रचना की है परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध होता है कि राम और कृष्ण भगवान के अवतार नहीं थे। वस्तुतः वे भगवान थे और मनुष्य की महत्ता स्थापित करने के लिये निराकार से सरकार बने थे। तर्क का कहीं अन्त नहीं है, यह हमारी असमर्थता का द्योतक है। और कृष्ण तथा हमारे बीच में जो युगों का आवरण पड़ा हुआ है उसको चीर कर हम निश्चय से कुछ नहीं कह सकते। हिन्दूलोग तथागत को भी भगवान का अवतार मानते है परन्तु बौद्ध नहीं मानते क्योंकि वे भगवान की सत्ता को स्वीकार नहीं करते फिर भी वे भगवान न होकर भगवान की तरह रहस्यमय अवश्य हैं। उनके पूर्वजन्मों की रहस्यमयता उन्हें भी साधारण मानव से बहुत परे कर देती है। उनके लिये मनुष्य कह सकता है, वे बोधिसत्व थे; हर कोई बुद्ध नहीं बन सकता। अपनी पंगुता को छिपाने के लिये मनुष्य कम तार्किक और विचक्षण नहीं है। इसीलिये उसने ईसा को भगवान का पुत्र माना और माना कि माता मरियम का विवाह मनुष्य से नहीं हुआ था। उनके बाद जब हजरत मोहम्मद ने धरती के वासियों को मोहजाल से मुक्त किया तो एकबार फिर मनुष्य ने अपनी शक्ति में अविश्वास प्रकट किया। उसने हजरत को पैगम्बर अर्थात ईश्वर का दूत कहा और फरिश्तों की सृष्टि की।

वे सम्भवतः अन्तिम महापुरुष थे जिनके द्वारा मनुष्य ने अपरोक्ष रूप म अपनी अप्रतिष्ठा की। उसने उनको मनुष्य न मान कर मनुष्य की उस महानता से इन्कार किया जिसका प्रतिपादन व्यास ने किया था परन्तु जैसे-जैसे वह इतिहास के समीप आता गया उसका अपने में विश्वास बढ़ता गया और उसने अपने महा-पुरुषों के कार्यों को अभौतिक कथाओं के चमत्कार में छिपाना छोड़ दिया। इस बात का जो शुभ परिणाम हुआ उसकी प्रतीति आज हो रही है। अभी-अभी इस लोक ने ऐसे ही महापुरुष का भौतिक अन्त देखा है। उन महापुरुष का नाम महात्मा मोहन दास करम चांद गान्धी था। वे उन महापुरुषों में थे जो सर्वकालीन और सर्व-देशीय होते हैं। उनके कार्य का मूल्यांकन काम नहीं है और न उनकी विशदता, व्यापकता और गहराई की कोई नाप-तौल है। वे समुद्र की तरह अथाह और आकाश की तरह व्यापक हैं परन्तु उनके विषय में एक बात पूर्ण निश्चय से कही जा सकती है कि वे पहले महापुरुष हैं जिन्होंने व्यास और वाल्मीकि के नरचन्द्र की वस्तुतः रक्षा की है। उन्होंने भगवान से मनुष्य बन कर उसकी अपंगुता पर मोहर नहीं लगाई बल्कि मनुष्य बने रह कर उसकी शक्ति और विश्वास को प्राणप्रतिष्ठा की। उन्होंने अतिसाधारण तल से निरन्तर ऊपर उठकर उस पद को प्राप्त किया जिस पर आज तक अवतारी और दिव्य पुरुष आसान रहे थे। बीसवीं सदी की भाषामें उन्होंने विशिष्ट जनों के जन्माधिकार का खंडन करके सामान्य जन को राजपद पर आसीन किया। सच्चे अर्थों में उन्होंने सर्वहारा को सर्वस्व का अधिकारी बनाया। वे पृथ्वी के पार्थिव बने रहे। उन्होंने कभा पूर्णता का दावा नहीं किया परन्तु वे पूर्णता की ओर बढ़ने से पीछे नहीं हटे। उन्होंने लिखा है— "पूर्णता की ओर बढ़ने का असीम प्रयत्न करना हमारा मानवोचित अधिकार है, उसका फल तो स्वतः उसके साथ विद्यमान रहता है। शेष सब ईश्वर के हाथ में ह।" वेद ने भी तो कहा है—भूमव सुखं भूमात्वैव विजिज्ञासितव्या। पूर्णता ही सुख है उसको जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

मानव जाति की विशषता क्या है यह प्रश्न आदि काल से तत्वदर्शी लोग पूछने आये है। उत्तर भी उन्हों ने दिया है। वे अनेक है, नैतिक गुण, ईश्वर भक्ति, साहस, आत्म विश्वास, वलिदान आदि गुणों को विभिन्न मनीषियों ने मनुष्य की विशेपता कहा है। भर्तृहरि ने ज्ञान को और अरस्तू ने वुद्धि को मनुष्य की विशेपता माना है। लन्दन विश्वविद्यालय के डा० जोड ने अरस्तू की मान्यताकी परीक्षा करने के बाद लिखा है—क्या विद्वान और बुद्धिमान पुरुष स्वयं अपने से तटस्थ होता है? मेरा विचार है कि नहीं... ...दार्शनिक तो छोटी छोटी बातों पर अपने उत्तेजित होने वाले स्वभाव के लिये प्रसिद्ध ही है, इसलिये मेरा विचार है कि

अरस्तू का कथन सत्य की ओर सिर्फ निर्देश करता है। पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता। सचाई तो यह है कि मानव जाति की विशेपता अपनी आत्मा के विस्तार में अपने मानसिक आवेशों, प्रलोभनों, आशाओं और इच्छाओं में उस तटस्थ अनासक्त वृत्ति का प्रवेश कराना है जिसको तार्किक अपने वुध्यिग्राह्य प्रतिपाद्य विपय पर प्रयुक्त करता है। अपने प्रति अनासक्ति रख कर कुछ सत्यों के प्रति तीव्र भक्तिभाव रख सकना और कुछ सिद्धान्तियों के विपय में अनासक्त आग्रह रख पाना, यही मेरे मन में उस गुण को जाग्रत करना है जो मानव की विशेपता है। वह है नैतिक शक्ति।" व्यास ने कहा है—आत्मनस्तु क्रियोपायी नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात (उद्योग ६९, १७) इन्द्रियों को रोकने के अतिरिक्त आत्मा की उन्नति का दूसरा उपाय नहीं है।' यही अनासक्ति है। वाल्मीकि ने भी भरत द्वारा राम के प्रति कहलवाया है—'तुम्हारे लिये मृत्यु और जीवन। होना और न होना दोनो समान हैं। ऐसी वुद्धि जिसको मिला है उसको परिताप कहां से हो सकता है। अपने पार्थिव जीवन में गान्धी इसी नैतिक शक्ति पर विजय प्राप्त करके जावित रहे हैं। उन्होंने इसी नैतिक शक्ति द्वारा गिरे हुए मनुष्यों के अन्त:करण में अपनीं मनुष्यता में विश्वास जागरित किया और इतिहास की धारा को पलट दिया। यह एक ऐसा गुण था जिसका किसी देश विशेप या जाति विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में उनकी देशभक्ति तथा उनके प्रयत्नों द्वारा भारत की दासता से मुक्ति एक आकिस्मक घटना है। उनका उद्देश्य तो उपरोक्त नैतिक गुण अर्थात् अनासक्त जीवन की व्याख्या करना था। यह व्याख्या की उन्होंने उस जीवन के अनुसार जीवनधारण करके। उन्होंने लिखा है— "मेरे लिये मुक्ति का मार्ग तो अपने देश और मनुष्य मात्र की निरन्तर सेवा करते रहना ही है। मैं तो जीव मात्र से अपनी एकता कर देना चाहता हूँ। गीता के शब्दों में 'समः शत्रु च मित्रे च' मित्र और शत्रु में समदृष्टि होना चाहता हूँ। अतः मेरी देशभक्ति भी अनन्त शक्ति और मुक्ति की ओर मेरी यात्रा का पड़ाव मात्र है।" अपनी देशभक्ति का एक और कारण उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"जिसे सत्य की सर्वव्यापक विश्वभावना को अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखना हो उसे निम्नतम प्राणी के साथ आत्मवत प्रेम करना चाहिये और जिस व्यक्ति का यह महत्वाकांक्षा होगी वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने को पृथक नहीं रख सकेगा। यही कारण है कि मेरी सत्यभक्ति मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींच लायी है और मैं विना तनिक भा संकोच के तथा पूर्ण नम्रता से कह सकता हूं कि जो लोग यह कहते ह कि धर्म का राजनीति से कुछ सम्बन्ध नहीं वे नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है। यहाँ धर्म और राजनीति के विवादास्पद अर्थों की व्याख्या करना असंगत होगा क्योंकि उपरोक्त वक्तव्य को उद्धृत करने का आशय केवल इतना है कि गान्धी जी का लक्ष्य-उद्देश्य

ग्रोर क्षेत्र व्यापक मानवता था। उसके लिये वे स्वयं उद्देश्य, लक्ष्य ग्रौर क्षेत्र बने क्योंकि उनके लिये विश्वास करने का अर्थ था कार्य करना। तभी वे परिपूर्ण मानवता का एक नमूना बन गये थे। उनकी हार्दिक मानवी करुणा ग्रौर ग्राधारभूत मानवीयता ने ही उन्हें ग्रपने सिद्धान्तों से ऊपर उठा दिया। यह मनुष्य की साधना की पराकाष्ठा है। जो इस सत्य को नहीं समझ पाते वे गान्धी जी को रहस्यमय व्यक्ति की तरह देखते हैं। जिनकी ग्राध्यात्मिता में गति है वे गान्धी जी को सन्त नहीं मानते। जो राजनीति के खिलाड़ी है वे कहते हैं गान्धी जी बड़े से बड़े सत्य को जान सकते हैं परन्तु वे राजनीति को नहीं समझ सकते। उन्हें लोगों ने प्रतिक्रियावादी, पाखण्डी ग्रौर मिथ्या रहस्यवादी भी कहा है। इसका कारण यह था कि उन लोगोंने ग्रपनी-ग्रपनी एकांगी दृष्टि से उन्हें ग्रांका। उनके ग्रपने विचार ,थे, ग्रपना धारणायें थीं, ग्रपनी ग्राशायें थीं। गान्धीं जी में उन सबका प्रतिपादन नहीं हुग्रा इसीलिये वे निराश होकर उनकी निन्दा करने लगे। ग्राज जब उनका पार्थिव रूप संसार में नहीं हैं तो सब लोग उन्हें समझ गये हैं यह तो निश्चय से कभी नहीं कहा जा सकेगा परन्तु इतना सम्भव है वे गान्धी जी के विशद ग्रौर व्यापक कार्यक्षेत्र को समझ सकें। समझसकें कि जिसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सबसे ग्रधिक विवाद है वही विश्व के महान पुरुषों में सबसे ग्रधिक सफल हुग्रा है ग्रौर वह भी ग्रपने जीवन काल में। तब सम्भव हैं वे इस ग्रमर सत्य को ग्रनुभव करेंगे कि उस ग्रनासक्त मनष्य की हार्दिक मानवी करुणा ग्रौर ग्राधारभूत मानवीयता ने ही उन्हें मनुष्यों में गौरी शंकर बना दिया था। लेकिन डर इन लोगों से नहीं है वह तो ग्रपने घर में हैं। ऊपर जिन ग्रवतारी पुरुषों की चर्चा की गयी है उनके ग्रपने ग्रनुयायियों ने उनके सिद्धान्तों की हत्या की है। उन्होंने उन्हें ग्रवतार बना कर पूजा की परन्तु वे जो कहते थे उसका पालन नहीं किया। संत मूर्खों के देश में पूजे जाते हैं यह एक कढुवी—परन्तु सच्ची उक्ति है। गान्धी जी ग्रभी ग्रवतार नहीं बने शायद बनें भी न, परन्तु उनके सिद्धान्तों को जिनके लिये वे जिये ग्रौर मरे, भुलाने के प्रयत्न शुरू होगये हैं। एक प्रकार के वे मनुष्य हैं जो मानते है गान्धी जी समय से सौवर्ष पहिले पैदा हो गये थे। दूसरे प्रकार के वे भक्त हैं जो उनके सन्देशों को स्तूपो, विद्यापीठों ग्रौर मूर्तियों के पीछे छिपा देना चाहते हैं। वे उस काल पुरुष की मूर्ति की चरणवन्दना कर सकते हैं परन्तु उनके किसी ग्रादेश का पालन नहीं कर सकते, क्योंकि ग्रभी उनको ग्रपने में विश्वास नहीं है। वे व्यास के उन शब्दों को ग्रभी ठीक ठीक नहीं समझ पाये हैं कि मनुष्य से बढ़ कर कुछ नहीं है। महापुरुषों के ग्रनुयायियों न कब उन्हें धोखा नहीं दिया इस तथ्य को समझाते हुते एक महापुरुष ने ग्रपने ग्रन्तकाल के समय

सन्देशा मांगने पर कहा था; 'मेरे अनुयायियों से खबरदार रहना'। गान्धी जी इस सत्य से अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने सच्चा गान्धीवाद का खण्डन किया था। उन्होंने कहा था कि गान्धीवाद यदि है तो इसका एक मात्र अनुयायी मैं हूँ। मेरे बाद मेरा नहीं रहता। रहता हूँ तो मैं रखता हूँ और मेरी पूजा है मेरी आधारभूत मानवीयता का जीना। अपनी अन्तिम जन्मतिथि पर दो अक्टूबर १९४७ को उन्होंने दर्द भरे शब्दों में कहा था—मेरे लिये आज मातम मनाने का दिन है। मैं आजतक जिन्दा पड़ा हूँ इस पर मुझको खुद आश्चर्य होता है, शर्म लगती है, मैं वही शख्श हूँ कि जिसकी जबान से एक चीज निकलती थी कि ऐसा करो तो करोड़ों उसको मानते थे पर आज तो मेरी कोई सुनता ही नहीं है।.......मैं तो आप लोगों को, जो मुझको समझते हैं और मुझे समझनेवाले काफी पड़े हैं, मैं कहूँगा कि हम यह हैवानियत छोड़ दे।" जीवन के अन्तिमकाल में इसी हैवानियत को दूर करने के लिये उन्होंने प्राणोंका सौदा किया था अन्त में उसी के लिये वे मुक्त होगये। उनका जीवन महान था उनका अन्त उससे भी महान था। परन्तु क्या संसार (विशेष कर उनके देशवासी उनके अन्तिम सन्देश का महत्व समझते हैं? क्या हम उसको जीने की जो हमारा अधिकार है चेष्टा करेंगे? यह उनके प्रेम की शर्त है यह हमारे, विश्वास की शर्त है अर्थात मानव की मानवता में विश्वास की शर्त है।

०

'सेक्रिफाइस' का सच्चा अर्थ यह है कि हम मरें जिससे दूसरे जी सकें, हम कष्ट सहन करें ताकि दूसरों को आराम मिले! दूसरों के लिये मरना प्रेम की पराकाष्टा है और इसी का शास्त्रीय नाम अहिंसा है। इसलिये कहा जाय कि अहिंसा ही सेवा है। संसार में हम देखते हैं कि जीवन मृत्यु का युद्ध सतत चला है। किन्तु दोनों का योग मृत्यु नहीं जीवन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा ही सर्व व्यापक धर्म है।

—गांधीजी।

"जो आदमी आत्मा से लूला है, पंगु है, अंधा है, वह अहिंसा को समझ नहीं सकता। अहिंसा का पालन कर नहीं सकता। मैंने गलती से यह सोच लिया था कि हिंदुस्तान की आज़ादी की लड़ाई अहिंसक लड़ाई थी। लेकिन पिछली घटनाओं ने मेरी आँखें खोल दी हैं कि हमारी अहिंसा असल में कमजोरों का मंद विरोध था। अगर हिंदुस्तान के लोग सचमुच बहादुरी से अहिंसा का पालन करते, तो वे इतनी हिंसा कभी नहीं करते।"

—गांधीजी

बापू की यात्रा

पाण्डेय श्रीनर्मदेश्वर सहाय

तुम चलते तो आकाश दहलने लगता
देवों का अमर निवास दहलने लगता

थर-थर करता गिरिपुञ्ज प्रतिक्षण विह्वल
हिल उठता है नभचुम्बी पर्वत अंचल
कम्पित होता दिक्करियों का वक्षस्थल
गर्जन कर उठता मदोन्मत बादल-दल

सीमाएँ तोड़ समुद्र उछलने लगता
तुम चलते तो आकाश दहलने लगता

तम भाग खड़ा होता प्राणों को लेकर
लुकता धीरे से खोज शून्य गिरि-गह्वर
रुकता वन्दन को मारुत निज अञ्जलिभर
झुकता दोनों कर जोड़ काल प्रलयंकर

पद-चुम्बन को इतिहास मचलने लगता
तुम चलते तो आकाश दहलने लगता

प्रति-चरण-चाप से तेज निकलता बढ़ता
गतिको अवलोक क्षितिज पर दिनमणि चढ़ता
चुन पग-चिह्नों को युग भविष्य को गढ़ता

नक्षत्र-पुञ्ज अपने ही जलने लगता
तुम चलते तो, आकाश दहलने लगता

बंधन आये, टकराये, लौटे, क्षण में
सम्मुख ठहरें कब इतनी शक्ति मरण में
मिट गये विरोधी तत्त्व नियति-कर्षण में
तुम सुधा-कलश भर विहँसे विष-वर्षण में

तुम चरण बढ़ाते प्रलय पिघलने लगता
तुम चलते तो आकाश दहलने लगता

•
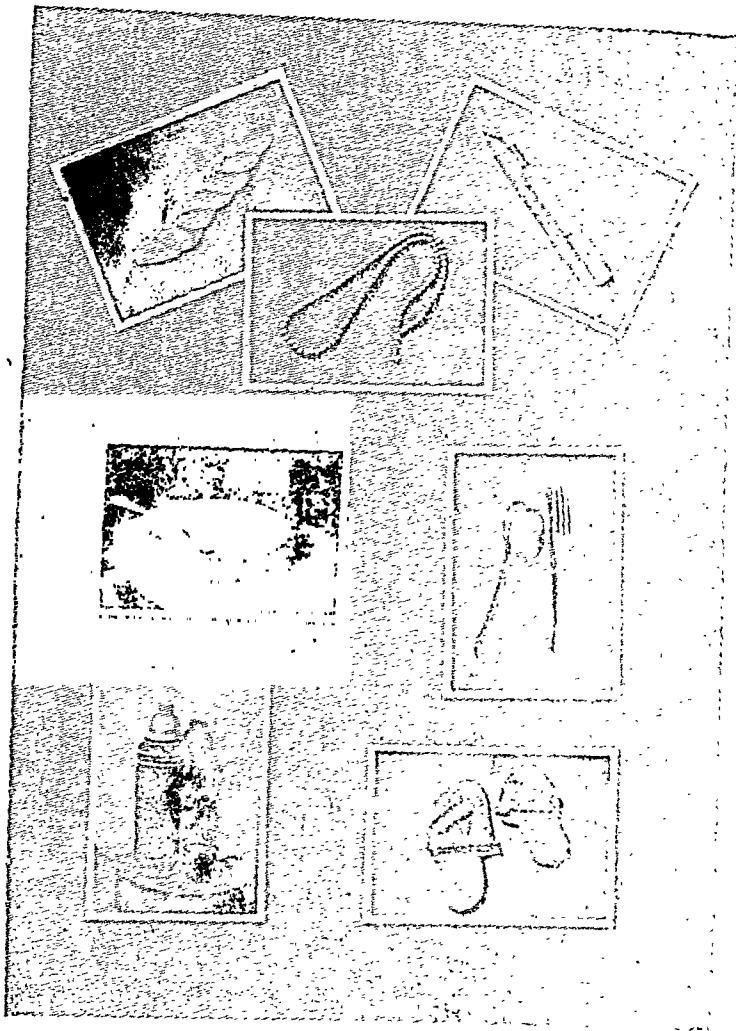
गांधी जी के नित्य व्यवहार की वस्तुएँ

नोआखाली-यात्रा में

वैतरणी के तीर पर

श्रीआरसीप्रसाद सिंह

[वैतरणी के तीर पर, ३० जनवरी सन् १९४८ की संध्या ; तीन व्यक्ति बैठे दिखलाई पड़ते हैं जिनमें दो पुरुष हैं और एक स्त्री। स्त्री श्रीकस्तूर बा गांधी हैं और पुरुषों में एक कवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर और दूसरे लोकमान्य श्रीबालगंगाधर तिलक। वेश-भूषा में कोई असाधारणता नहीं ; जिनकी जैसी रहती आई है, वैसी ही।]

कस्तूरबा—(रवीन्द्रनाथ ठाकुर से) गुरुदेव, आप मौन क्यों हैं ? बोलते क्यों नहीं ? स्वामी अभीतक नहीं आये ?

रवीन्द्रनाथ—देवी, यही तो मैं भी सोच रहा हूँ। भगवान् नारद ने आज दोपहर में ही मुझसे कहा था कि नाथूराम नामक किसी व्यक्ति को प्रभु की आज्ञा मिल चुकी है। क्या वह समर्थ नहीं हो सका ?

तिलक—गुरुदेव, आश्चर्य है कि आप ऐसी बातें कर रहे हैं! त्रिलोक में ऐसा कौन पुरुष है, जो प्रभु की आज्ञा का निरादर कर सके ? मेरा तो विश्वास है कि महापुरुष अभी आते ही होंगे। वह देखिये ···(क्षितिज की ओर इंगित कर) कैसी ज्योति-माला है ? कितना उज्ज्वल प्रकाश है ! मालूम पड़ता है, जैसे संध्या के घनीभूत अन्धकार को चीरकर कोई दूसरा ही सूर्य प्रकट हुआ हो ! गुरुदेव ! (कस्तूरबा गांधी को सम्बोधित कर) बा ! निस्सन्देह वह महापुरुष ही हैं। उठिए, गुरुदेव ! उठिए। और बा, तुम भी उठो। हम उनका स्वागत करें।

[उल्का के समान एक ज्योतिपुञ्ज क्रमशः निकट आता जाता है और तीनों व्यक्ति खड़े होकर उत्कण्ठा-पूर्वक उसके आगमन की प्रतीक्षा करने लगते हैं।]

रवीन्द्रनाथ—महात्मा तिलक, सुनिये ! दिगन्त में यह कैसा कोलाहल हो रहा है ? भेरी, मृदङ्ग, वंशी और शंख के ये कैसे कर्णप्रिय स्वर गूंज रहे हैं ? अप्सरियों का मीठा-मीठा संगीत वायुमण्डल से अठखेलियाँ करता हुआ आ रहा है ! सचमुच यह गांधी महाराज ही हैं ! (कस्तूर बा को सम्बोधित कर) देवी, स्वर्ग में आज कितना उल्लास है ! आनन्द की धारा फूट चली है ! कितने युगों की सुदीर्घ प्रतीक्षा के बाद संसार से एक दिव्य पुरुष का शुभागमन हो रहा है ! देवताओं के हर्ष का क्या कहना ?

कस्तूरबा—सच है गुरुदेव ! लेकिन, मैं तो अपने सुहाग की चिन्ता करती हूँ। देवताओं के सौभाग्य की कल्पना तो आप जैसे महाकवि ही कर सकते हैं ! धन्य है वह प्रभु, जो सबकी मनोकामना पूरी करता है !

[सहसा वह प्रकाश-पुञ्ज तीनों व्यक्ति एकदम सन्निकट पहुँच जाता है। दशों दिशाओं की आँखें प्रखर आलोक से चौंधिया उठती हैं। ज्योतिमाला के बीचोबीच तपे हुए स्वर्ण-जैसा चमचमाता हुआ एक दिव्य रथ दिखलाई पड़ता है। जिसमें सातों रंग के सात किरण-अश्व जुते हुए हैं और देखते ही देखते उसमें से दोनों हाथ जोड़े, मुस्कुराता हुआ एक दिव्य पुरुष उतर पड़ता है। सबसे प्रथम कस्तूर बा पर दृष्टि पड़ती है और उसे हृदय से लगा लेते हैं। फिर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को देखते हैं और उनका चरण-स्पर्श करना ही चाहते हैं कि कवि-गुरु 'हाँ-हाँ, यह क्या करते हैं ?' कहकर उनके पैरों की धूल स्वयं ले लेते हैं। इसके उपरान्त लोकमान्य तिलक को करबद्ध नमस्कार करते हैं। अपूर्व मिलन, अद्भुत दृश्य समुपस्थिति हो जाता है। क्षणभर कस्तूर बा महापुरुष के मुख-मण्डल की ओर मुग्ध होकर देखती रहती हैं और फिर उनके चरणों में लोट जाती हैं। महापुरुष उसे उठाकर पुनः हृदय से लगा लेते हैं। कस्तूर बा की आँखों में आनन्दाश्रु छलक उठते हैं]

महापुरुष—कहो बा, कुशल से तो रही ?

कस्तूरबा—आपके बिना कुशल कहाँ, स्वामी ! जब हृदय बहुत व्याकुल हो उठता था, तब मीरा के पास बैठ जाती थी। पगली मीरा, यहाँ भी धूम मचाती फिरती है ! कभी तुलसी महाराज के दर्शन हो जाते, कभी नरसी मेहता के। किसी तरह जीवन को बहलाती आयी हूँ।

महापुरुष—बा, सौभाग्य से ही ऐसे महात्माओं और पुण्यशील व्यक्तियों के दर्शन तथा सत्संग का लाभ मिलता है। (रवीन्द्रनाथ को सम्बोधित कर) और, आप गुरुदेव ! पारिजात के वन में कल्पनाओं का अभाव तो कभी नहीं रहा ?

रवीन्द्रनाथ—(मुस्कुराकर) सब आपकी कृपा रही, महाराज !

महापुरुष —अरे हाँ, भगवान् तिलक ? क्षमा कीजिएगा, लोकमान्य ! आप तो मुझसे कुछ रुष्ट-से दिखलाई पड़ते हैं ! क्या सेवक ने कोई अपराध किया है ?

तिलक—आप ऐसा क्यों कहते हैं, महापुरुष ? मेरा शिर तो स्वयं लज्जा से झुका जा रहा है। विधाता का भी कैसा न्याय है कि एक हिन्दू, और उसमें भी महाराष्ट्रीय को ही शैतान का कार्य-भार सौंपा गया ! उसने तो केवल अपने देश को ही नहीं, सारे संसार को कलंकित किया।

महापुरुष—भगवन्, उसने तो प्रभु के आदेश का पालन किया। और, प्रभु की इच्छा की पूर्ति जिससे हो, उसमें आप-जैसे विवेकशील व्यक्ति के लिये न्याय-अन्याय का विचार करना उचित नहीं।

रवीन्द्रनाथ—ठीक है महाराज। संसार में कौन किसको मारता है और कौन किसे मरता है? सूत्रधार के हाथों में पड़ी हुई कठपुतलियों की तरह संसार के सभी जड़-चेतन पदार्थ उसके इशारों पर नाचते फिरते हैं! यह तो उसका अहंकार है, जो कर्त्ता को अपने कर्त्तृत्व का मिथ्या बोध कराता है! सृष्टि का जो एकमात्र संचालक है, वह जब देखता है कि किसी व्यक्ति-विशेष का विशेष कार्य समाप्त हो चुका और उसके अस्तित्व से आनेवाले समाज के अनिष्ट की आशंका है, तब वह उसको वापस बुला लेना ही पसन्द करता है। क्यों महात्मा तिलक, क्या आप यह समझते हैं कि गांधीजी महाराज की हत्या से नाथूराम को कोई विशेष स्वार्थ सिद्ध करना था? जिस लोक-कल्याण की भावना से महराज ने अपना अन्तिम आमरण अनशन आरम्भ किया था, उसी लोक-कल्याण की भावना से अनुप्रेरित होकर हत्यारे ने भी महराज के जीवन का अन्त कर देने का जघन्य कर्म किया। नाथूराम ने भी तो यही देखा कि गांधी महाराज के रहने से किसी विशेष समाज का कल्याण खतरे में है; और ऐसा समझकर ही उसने महाराज को संसार के पर्दे से उठा दिया।

महापुरुष—इस सम्बन्ध में महात्मा तिलक ही अधिकारपूर्वक कुछ कह सकेंगे। मैं तो सर्वथा अयोग्य हूँ।

तिलक—क्यों गुरुदेव, आपने मेरी 'गीता-रहस्य' नामक पुस्तक देखी है?

रवीन्द्रनाथ—नहीं, महाशय! खेद है कि न तो मैं हिन्दी अच्छी तरह समझ सकता हूँ और न मराठी। लेकिन, आपका तात्पर्य क्या है?

तिलक—ओह! तब आप कैसे समझेंगे कि आज जिसे गांधी-युग के नाम से लोग जानते हैं, उसके निर्माण में उस ग्रन्थ का कितना बड़ा हाथ है!

महापुरुष—धृष्टता क्षमा कीजिए, भगवन्! ऐसा कहने का कष्ट आप स्वयं न करें। सेवक स्वीकार करता है कि भारतवर्ष को कर्मयोग का इतना सुन्दर शास्त्रीय प्रतिपादन प्रथमबार मिला। मेरे सामने वह ज्ञान था, इसका मैं ऋणी हूँ। लेकिन, गीता का चरम ज्ञान कर्मयोग में ही नहीं समाप्त हो जाता। उसे अनासक्ति का भी बारम्बार स्मरण दिलाना होगा।

कस्तूरबा—स्वामी, मुझे आज्ञा दें, तो महादेव को भी बुला लाऊँ?

महापुरुष—क्या कहा, देवी? महादेव? अरे हां, मैं तो उसे भूल ही गया था? कहाँ है वह? क्या तुम अकेली जा रही हो? ठहरो। हमलोग भी क्यों न चलें?

कस्तूरबा—स्वामी, वह तो आजकल बड़ा भारी पुजारी बन बैठा है। कहीं से आपका एक चित्र ले आया है। दिन-भर उसकी पूजा करता है, फूल चढ़ाता है और न जानें क्या-क्या गुनगुनाया करता है !

महापुरुष—तब तो उसे कष्ट देना ठीक नहीं, देवी ! (मुस्कुरा कर) जानती नहीं हो क्या कि भगवान् स्वयं भक्त के पास पहुँचते हैं ! (तिलक से) चलिए, लोकमान्य ! आप भी चलिए।

तिलक—मुझे तो अब अवकाश दीजिए, महापुरुष ! फिर मिलेंगे।

महापुरुष—और आप गुरुदेव ? आप तो चल रहे हैं न ?

रवीन्द्रनाथ—महाराज, मैं आपके साथ हूँ। चलिए।

[चारों व्यक्ति उठकर खड़े होते हैं। श्रीबालगंगाधर तिलक नमस्कार कर चले जाते हैं। और शेष सभी एक मन्दिर में पहुँचते हैं। द्वार पर दो व्यक्ति बैठे वाद-विवाद कर रहे हैं और एक तीसरा व्यक्ति भी है, जो मन्दिर में ध्यान-मग्न है। वाद-विवाद करनेवाले दोनों व्यक्तियों में एक वृद्ध है, जिसका नाम मदनमोहन मालवीय है; और दूसरा आयु में प्रौढ़ होने पर भी अभी तरुण ही है, जिसका नाम लेनिन है। ध्यान-मग्न व्यक्ति ही महादेव देसाई है, जिसे मानो, इस बात की कोई खबर ही नहीं कि बाहर कहाँ, क्या हो रहा है ?]

लेनिन—आप चाहें, जो भी कहें मालवीयजी, लेकिन, मेरी समझ में यह बात बिल्कुल नहीं आती कि महादेव यों दिन-भर आँख मूँदकर बैठा-बैठा क्या करता रहता है ? कोई रोजगार करता ? कमाने-खाने का कोई इन्तजाम करता ? यह पाखण्ड नहीं, तो क्या है ? मार्क्स ने कहा है······

मदनमोहन मालवीय—ठहरिये, लेनिन महाशय ! आप तो इतने उतावले मालूम पड़ते हैं कि कहीं आपका बस चले, तो ऐसे सभी लोगों को गोली मार दें ! लेकिन, जरा सुनिये तो !····मेरा अनुमान है कि शायद कुछ लोग इधर ही आ रहे हैं !

[लेनिन का हाथ पाकिट में चला जाता है और वह चौकन्ना होकर आवाज की ओर देखने लगते हैं।]

म० मो० मालवीय—पिस्तौल निकालने की जरूरत नहीं, जनाब लेनिन, सम्भवतः वे हमारे शत्रु नहीं, मित्र ही साबित होंगे।

लेनिन—होंगे, तो हों। मैं तो मालवीयजी, इन दुष्टों से हमेशा सावधान रहता हूँ। न जानें, कब हमला बोल दें ! आह, अभी तक (सीने की एक हड्डी में उँगली धँसाते हुए) इस पसली में दर्द हो रहा है !

[इतने में वे तीनों व्यक्ति भी मन्दिर की विशाल सीढ़ियों से आगे बढ़ते हुए दिखलाई पड़ते हैं। आगे-आगे महापुरुष, बीच में कस्तूर बा और पीछे-पीछे रवीन्द्रनाथ ठाकुर। मालवीयजी दौड़कर महापुरुष से लिपट जाते हैं! लेनिन भौंचक्के से देखते रह जाते हैं।]

म० मो० मालवीय—(गद्गद्-कण्ठ से स्वागत करते हुए) अहा! आप आ गये महाराज, स्वर्ग पवित्र हो गया! आइये, पधारिये! (लेनिन की तरफ इशारा कर) आप तो इनसे परिचित ही होंगे? महात्मा लेनिन! (पुनः महापुरुष की ओर देखकर) और आप, महापुरुष गान्धीजी महाराज!

[महापुरुष दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं और लेनिन इसके उत्तर में दाहिने हाथ की बँधी हुई मुट्ठी झटके के साथ सिर से ऊपर उठा देते हैं।

लेनिन—ओह गांधी! महात्मा! आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई! अभी 'स्वर्ग-समाचार' में पढ़ा था, किसीने आपको गोली मार दी!

महापुरुष—प्रभु की इच्छा!

लेनिन—सुना आपने मालवीयजी, फिर वही प्रभु की इच्छा! कौन प्रभु? किसका प्रभु? (जेब से रिवाल्वर निकालकर) मुझे मिले, तो अभी उसका काम तमाम कर दूँ!

महापुरुष—(बिहँसकर) उसपर इतना क्रोध करने की जरूरत नहीं, महात्मा लेनिन! वह तो स्वयं आपके सामने नतमस्तक है! अभी मैं आपको उससे मिलाता हूँ। जरा शान्त रहिये। (कस्तूर बा की तरफ मुड़कर) बा, महादेव कहाँ है।

[कस्तूर बा मन्दिर की तरफ इशारा करती हैं। महापुरुष उधर बढ़ते हैं। तबतक महादेव देसाई की आँखें खुल जाती हैं। सामने महापुरुष को देखते हैं। तत्काल चरणों पर गिर पड़ते हैं। महापुरुष उठा लेते हैं। 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी।'—जैसी अवस्था है!]

महापुरुष—[एक बार चारों ओर देखकर) महादेव, यह कैसा प्रपंच कर रक्खा है? क्या मेरे आजीवन उपदेश का यही फल है? किसने कहा था कि यों तुम मेरी विडम्बना करो? लेकिन, जाने भी दो! इन बातों से तुम्हें तकलीफ होगी! अरे, तुम तो बहुत दुर्बल हो गये, महादेव! क्या स्वर्ग में भी दुर्भिक्ष? अच्छा, आओ तपस्वी! हम लोग बाहर बैठें!

[सब लोग मन्दिर के विशाल आँगन में केसर की कोमल शय्या पर बैठ जाते हैं। आकाश से एक कृत्रिम प्रकाश आ रहा है, जो ठीक चाँदनी-सा मालूम पड़ता है। नन्दन-वन से झूमती हुई ठंढी-ठंढी हवा आ रही है, जिसमें मन्दार-पुष्पों की

भीनी-भीनी सुगन्ध लहालोट हो रही है। कुञ्जों से कोयल की पञ्चम ता
आ रही है।]

रवीन्द्रनाथ—अहा, कितनी सुहावनी रात है ! वसन्त मानो साकार हो ग
हो ! स्वर्ग की मधुरिमा में, यौवन-सुरा से मत्त होकर,·······

लेनिन—क्षमा कीजिए, कविवर ! आपकी कल्पना को मैं बीच में ही व्याघा
दे रहा हूँ ! स्वर्ग ? मिथ्या शब्दजाल ! यह पागलों का प्रलाप नहीं त
और क्या है ?

रवीन्द्रनाथ—अपने व्यंग-विशिखों को कृपया तूणीर में रख लीजिये, लेनि
महोदय ! कविता का मर्म आप नहीं समझ सकते ! मुझे खेद है कि मे
स्पष्टोक्ति से आपकी क्रोधाग्नि और भी भभक उठेगी।

लेनिन—आप-जैसे कवियों ने ही धरती को नरक-सा भयानक बना दिया है
वस्तु-स्थिति से मानव-मन की भावनाओं को दूर ले जाकर एक झूठे स्वर्ग की कल्प
में छोड़ दिया है, जहाँ वह अकर्मण्यता की वारुणी पीकर मस्त रहता है। ए
ओर जहाँ उसने मुट्ठी-भर धनिकों के लिये विलास और मनोरंजन की साम
प्रस्तुत की है, वहीं दूसरी ओर दिन-रात कठोर कर्म-चक्र में पिसनेवाले श्रमजीवि
के सुख-दुःख के प्रति निरन्तर उपेक्षा का भाव दिखलाया है। जो थोड़े-से शिक्षि
और मनस्वी पुरुष हुए भी, तो उन्हें जीवन-संघर्ष से मुँह मोड़कर एक आध्यात्मि
सुख की ओर पलायन करने के लिये अनुप्रेरित किया है। क्यों कविवर, आपक
कविताओं का क्या यही न मर्म है ?

रवीन्द्रनाथ—(महापुरुष से) महाराज, सुन रहे हैं लेनिन महाशय का तर्क
वीणा से आप लट्ठ का काम लेना चाहते हैं।

महापुरुष—गुरुदेव, साधु लेनिन से मैं कुछ अंश में सहमत हूँ, यद्यपि कवित
या कला के विषय में कुछ भी कहना मेरा दुस्साहस-मात्र होगा।

लेनिन—कितना ढोंग ! महात्मा गांधी, क्या मैं जान सकता हूँ कि आ
किससे पूर्णांश में भी सहमत हैं ?

महापुरुष—बन्धु लेनिन, गुरुदेव की रचनाओं से लाखों व्यक्तियों को शान्ति
सुख और प्रेरणा मिलती है। जीवन-पथ में आगे बढ़ने का सम्बल मिलता है
क्या आपने इनकी 'गीताञ्जलि' नहीं पढ़ी ? कितने उदात्त विचार हैं !

लेनिन—महात्माजी, कालिदास और शेक्सपियर का जमाना लद चुका
सामन्ती युग में कवियों ने अपने आश्रयदाता के गीत गाये। आज का युग जनत
का है। आज का कवि जनता का कवि होगा। आप जानते हैं कि आज
दुनिया साफ तौर से दो दलों में बँट गयी है। एक दल है शोषकों का, पूँजी

पतियों का, अपने आभिजात्य का अभिमान करनेवाले बड़े-बड़े लोगों का। फिर भी उनकी संख्या दाल में नमक के बराबर है। दूसरा दल है शोषितों का, दलितों का, उन कमकरों का, जो अपना खून-पसीना एक कर जीवन की सभी जरूरी चीजों को पैदा करते हैं; फिर भी वे इनके उपभोग से जबरदस्ती वंचित कर दिये जाते हैं! हमारे कलाकारों को भी अब सोच लेना होगा कि इस लड़ाई में वे किसका साथ देंगे?

महापुरुष—गुरुदेव, तर्क तो बड़ा जटिल है। उत्तर है आपके पास?

रवीन्द्रनाथ—महाराज, कवि तो सदैव तर्क-वितर्क से दूर रहते आये हैं! जो सच्चा कलाकार होगा, वह तटस्थ रहना ही पसन्द करेगा। संसार के कर्म-कोलाहल में तो उसका दम ही घुट जायगा। उसे तो नदी का कल-कल गान चाहिये, वन-पर्वत की विजनता चाहिए। और चाहिये आत्म-देवता का प्रसाद। कबीर ने कहा है—'तू तो राम भजो जग लड़वा दे!' किसी विशेष दल के साथ उसका नाता कैसे निभ सकेगा?

लेनिन—लेकिन, जनता तो यह कह सकती है कि अगर तुम हमारे काम की चीजें नहीं लिखते हो, हमारा साथ नहीं देते हो, हमारे जीवन-मरण के युद्ध से अलग हो जाते हो, तो हम भी तुम्हारी रचनाओं का प्रचार बन्द कर देंगे; न उसे पढ़ेंगे और न किसी को पढ़ने देंगे। तो, क्या यह संभव है कि मुट्ठी-भर धनिक-वर्ग के लोगों के बल पर ही आज का कोई साहित्यकार ख्याति और प्रगति के पथ पर चल सकता है?

रवीन्द्रनाथ—साहित्यकार न तो किसी सम्मान का भूखा होता है और न पैसों का। वसन्त-ऋतु के आते ही जैसे अनायास वृक्षों से नवीन पल्लव निकल पड़ते हैं, वैसे ही प्रकृति की वीणा से झंकृत होकर उसके हृदय से भी गीतों का प्रवाह उमड़ता रहता है। इसके पुरस्कार में वह क्या चाहता है? यश, द्रव्य या तुच्छ सांसारिक पदार्थ? नन्दन-वन के पारिजात से क्या बबूल की तुलना की जा सकती है?

लेनिन—कविवर, यह आपकी व्यक्तिगत भावना है! युग की पुकार नहीं आखिर, आप भी तो उसी आभिजात्य वर्ग से आये, जो सारे बंगाल में प्रजोत्पीड़न के लिये उतना ही कुख्यात था, जितना हिन्दुस्तान के लिये ब्रिटिश सरकार। लेकिन क्या कभी आपने यह भी सोचा है कि आपके समान कितने कलाकार चीनांशुक पहनते हैं और रस की नदी में तैरते हैं! लाखों की जायदाद, सैकड़ों दास-दासियाँ, मोटर-पालकी, टीम-टाम आदि आज के किस कलाकार के पास है?····

महादेव देसाई—बन्धुवर, लेनिन, आप सीमा से बाहर होते जा रहे हैं। व्यक्तिगत आक्षप उचित नहीं।

लेनिन—आप इसे व्यक्ति समझते हैं? क्या कविवर स मेरा कोई निजी स्वार्थ है? मुझे तो जोंक की तरह मानवता का खून चूसनेवाले उस समाज से विरोध है, जिसके कल-पुर्जो में एक रवीन्द्रनाथ भी हैं। अगर कलाकार की अनजान मे भी हमारे दुश्मन उसकी कृतियों से फायदा उठाते हैं, तो हम कलाकर को दोषी समझेंगे। क्यों कविवर?

महादेवदेसाई—लेनिन भाई, गुरुदेव ने रूस देखा है, उसके स्वर्ग-अभियान की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जीवन और जागृति के गात भी गाये हैं; केवल शृंगार-साधन ही नहीं प्रदान किये हैं।

लेनिन—कामरेड देसाई, मैं तो कविवर की समस्त रचनाओं की मूल प्रवृत्ति देख रहा हूँ और देख रहा हूँ कि आगे आनेवाली पीढ़ी पर उसने क्या छाप छोड़ी है! और तब मुझे भारी निराशा होती है!

रवीन्द्रनाथ—महाशय लेनिन, आप गेहूँ की उपयोगिता समझते हैं, गुलाब की नहीं। गेहूँ की आवश्यकता से कौन इनकार कर सकता है? लेकिन, प्रकृति ने जहाँ तरह-तरह के अनाज पैदा किये हैं, वहीं नाना-प्रकार के फूल भी, फूल सुन्दर होता है, वरवस चित्त को आकर्षित कर लेता है, और उसकी सुगन्ध क्षण भर के लिए हमें आत्म-विस्मृत कर देती है, इसके सिवा और उसकी उपयोगिता ही क्या हो सकती है? लेकिन, आप फूलों की क्यारी के बदले गेहूँ की खेती को ज्यादा पसन्द करेंगे? नहीं, नहीं; गेहूँ के लिए गुलाब को मिटा देना चाहेंगे।

लेनिन—बेशक मैं ही क्यों, आज समूची दुनिया उसी एक रास्ते पर जा रही है! खाने को अन्न नहीं, पहनने को वस्त्र नहीं; गरीबी इस तरह बढ़ रही है कि लगता है, मानों सारी दुनिया को निगल जायगी! कलाकार को तो आपके जैसा राजा होना चाहिए। मुसीबतों से लड़ता हुआ आदमी कला के नाम पर अपने आपको धोखा देगा। आप ही खयाल कीजिए, जहाँ ट्रैक्टर चलेंगे, वहाँ गुलाब के अरमान तो कुचले ही जायँगे! (एक हलकी मुसकान के साथ) कविवर, मुझे तो लगता है कि फूलों में कमल ज्यादा होशियार है! तभी तो उसने अपने लिए एक ऐसा स्थान चुना है, जहाँ कुछ दिनों तक वह सकुशल रह सकता है! फिर कौन जानें, जन-समाज की बढ़ती हुई आबादी के साथ उसका वह मौरूसी हक भी छीन लिया जाए! देखिये न, महात्मा गांधीजी को! कहते हैं, मैं तो जमींदारों का भी दोस्त हूँ और किसानों का तो सेवक ही ठहरा! भला इस तरह एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं?

महादेव देसाई—बन्धुवर लेनिन, मेरा तो यही विचार है कि आपके और बापू के उद्देश्यों में तनिक भी अन्तर नहीं है। जो कुछ भेद है, वह साधनों में और कार्य-प्रणाली में!

लेनिन—उद्देश्य? कामरेड देसाई, केवल उद्देश्य महान् होने से ही कुछ नहीं होता! और अगर ऐसा हो भी तो वह हमारे किस काम का, जब हम उसे प्राप्त करने के तरीकों पर सहमत न हों! महात्माजी तो लल्लो-चप्पो वाली बातें करते हैं। भला इस दुरंगी बात में भी कोई वसूल है कि ओ लुटेरो, मैं तुम्हारा भी भला चाहता हूँ और जिसको तुम लूट रहे हो, उसका भी? इस तरह तो एक युग क्या, हजारों युग में भी हम संसार की वर्त्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को बदल देने में कामयाब नहीं हो सकते! जनता का राज महज एक खयाल ही रह जायगा और नई दुनिया बनाने के हौसले सपने ही बने रहेंगे।

महापुरुष—महात्मा लेनिन, हम तो किसी वर्ग-विशेष का स्वार्थ लेकर संसार की शान्ति को भयंकर रणभूमि में परिवर्तित करने के लिए नहीं आये। हम तो सर्वोदय चाहते हैं। हमारा राज्य राम-राज्य होगा। सभी वर्ग के लोग इसमें रहेंगे। फिर भी इनमें कोई संघर्ष नहीं होगा।

लेनिन—(हवा में घूंसा तानते हुए) ओह, फिर वही पुरानी बातें। यूरोपियन विचारकों की असम्भव कल्पना, ठोस धरती से जिसका कोई भी सम्बन्ध नहीं! जब तक वर्ग रहेंगे, तबतक वर्गों में संघर्ष होगा ही। हम तो तमाम वर्गों का नामोनिशान मिटा देना चाहते हैं!

महादेव देसाई—भौतिक वर्गों का मिटा देना आसान है। वे मिट भी जावेंगे। क्योंकि उन्हें आदमी ने बनाया है। लेकिन, ईश्वर ने जिस वर्ग-भेद का निर्माण किया है, वह तो कायम रहेगा ही।

लेनिन—क्या कोई ऐसा भी वर्ग है, जो अभौतिक है?

महादेव देसाई—हाँ, है। मान लीजिए कि एक परिवार है, उसमें एक कलाकार है, दूसरा डाक्टर है, तीसरा वकील है और चौथा किसान है। हो सकता है, कोई भंगी भी निकल आए। क्या इनकी बौद्धिक प्रतियोगिता को आप रोक देंगे? क्या कोई भी व्यक्ति खुशी से मेहतर या बागवानी का काम करना पसन्द करेगा, जब वह देखेगा कि उसके सामने इससे भी अच्छे-अच्छे काम हैं? आदमी केवल यही तो नहीं चाहता कि उसे पेट-भर खाना और गज-भर कपड़ा मिले। वह बौद्धिक जीव भी तो है! उसे नेतागिरी, यश, प्रमुखता आदि मानसिक खाद्य भी तो चाहिए! और जब एक वर्ग-संघर्ष दबेगा, तब दूसरा वर्ग-संघर्ष जोर पकड़ेगा!

लेनिन—यह बिल्कुल लचर दलील है ! आपने जिस दूसरे वर्ग-संघर्ष की संभावना बतलायी है, वह भी आखिर इसी भौतिक जगत की उपज है ! यदि हम वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था को मिटा देते हैं, तो वह भी आपसे आप मिट जायगा !

महादेव देसाई—यहीं हमारा आपसे मतभेद है। आप जो कुछ देखते-सुनते हैं, कार्य की दुनिया में ही। कारण-जगत् में आप प्रवेश करना भी नहीं चाहते। इस स्थूल संसार के परे, इससे भी विशाल जो एक सूक्ष्म जगत् निवास करता है, उसकी बातें करना भी आप वाहियात समझते हैं ! खैर। आज न सही, कल वह प्रकाश धरा पर अवतीर्ण होगा ही। गांधीवाद कोई नई चीज तो है नहीं, जो आज पैदा हो और कल मिट जाए ! यह तो एक सनातन सत्य है। महात्मा गांधी ने युग के अनुकूल बना कर उसका सन्देश-भर दिया है ; जैसे कभी बुद्ध ने दिया, ईसा ने दिया, मुहम्मद ने दिया या अन्य सन्त-महात्माओं ने दिया। मुमकिन है, आज वह सत्य पुनः दब जाय ! लेकिन, सदा के लिए न तो कभी दबा है और न दबेगा ही। जब आपका काम खत्म हो जायगा, अपने मनोनुकूल एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना आप कर लेंगे, तब फिर इसकी जरूरत होगी।

लेनिन—तब फिर इसकी क्या जरूरत होगी।

महादेव देसाई—वह यों कि पेट की भूख तो आप मिटा देंगे। मन की भूख कौन मिटायेगा ? आत्मा की प्यास कहाँ दूर होगी ? आज तो आप जो कर रहे हैं, वही ठीक है। कल आपको शान्ति, सुख, भ्रातृत्व और विशाल मानवता के लिये बापू के सत्य और अहिंसा की और भी ज्यादा जरूरत पड़ेगी ! और गुरुदेव की कला की भी।

लेनिन—आप की तो गंगा ही उल्टी बहती है, कामरेड देसाई ! (घड़ी की ओर देखते हुए) खैर। फिर बातें होंगी। अभी मुझे मजदूरों की एक सभा में जाना है। माफ कीजिए। (सब को एक दृष्टि से देखते हुए) अच्छा लाल सलाम ! (चलते हैं)

म० मो० मालवीय—अरे, कुछ मेरी भी सुनते जाइये, महाशय लेनिन !

लेनिन—(चलते-चलते) आप बुजुर्ग हैं। आपका मैं आदर करता हूँ बस इससे अधिक कुछ नहीं। (चले जाते हैं।)

म० मो० मालवीय—महापुरुष ! सुना आपने ? गुरुजनों का आदर करते हैं ये नास्तिक लोग ! तुलसीदास ने सच कहा है, कलियुग में ऐसे ही लोगों की बाढ़ होगी। वर्ण-व्यवस्था और धर्म का लोप हो जायगा। और भगवान् को

फिर अवतार लेना होगा—'यदा यदा हि धर्मस्य'। क्या भगवान् अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं करेंगे ?

रवीन्द्र—किन्तु, चाहे कुछ भी हो !, मेरा दिल तो यही कहता है कि प्रकृति के राज्य से वर्ग-भावना को दूर कर देना बिल्कुल असम्भव है ! प्रत्येक क्रिया अपने पीछे एक प्रतिक्रिया को जन्म दे जाती है ! यह द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति ही सृष्टि की जननी है। निस्सन्देह मार्क्स के भौतिकवाद से यह भिन्न है। सरोवर का जल जिस तरह क्षण-भर शान्त रहता है और हवा का झोंका उसे चंचल कर देता है। उसी तरह प्रकृति में भी एकता और अनेकता के रूप दृष्टिगोचर होते रहते हैं ! जिस दिन यह किसी एक ही भाव पर स्थिर हो जायगी, उसी दिन इसका नाश हो जायगा !

इतने में स्वर्ग का माली हठात् वहाँ आ जाता है। उसके हाथों में कोई एक मामूली चादर है, जिसके फन्दे में एक बकरी का गला बेरहमी से फँसा है और वह बेचारी जोर-जोर से 'में-में' कर रही है।]

माली—हुजूर ! देखिये इस बकरे की मा को ! हफ्तों से बाग में ऊधम मचा रक्खा है। मैं तो परीशान हो गया। आज गुलाब की पत्तियाँ चट कर लीं, तो कल माधवी की कलियाँ ही चबा डालीं ! नन्दन को चौपट कर डाला !

महादेव देसाई—अरे, यह तो निर्मला है !

कस्तूर बा—प्यारी निर्मला ! बेचारी, न जानें, अब तक कहाँ-कहाँ भटकती रही।

महापुरुष—महादेव, इसे ले जाकर कहीं बाँध दो। भूख-प्यास से परीशान होगी।

माली—नहीं सरकार ! इसने तो मुझे तबाह कर दिया है ! मैं इसे फाटक में रख आऊँगा या कसाई को बेच दूँगा।

[सहसा वहाँ भयानक अन्धकार फैल जाता है और सभी व्यक्ति कालिमा के उस अनन्त सागर में समा जाते हैं। कुछ भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।]

०

बहुत कुछ सोच विचार करने के बाद मैंने अच्छी तरह इस बात को समझ लिया है कि मृत्यु जीवन का रूपान्तर के सिवा और कुछ नहीं है। इसलिए जभी मृत्यु का मुझे सामना करना पड़ेगा, मैं उसी क्षण उसका आलिंगन करूँगा।

—म० गांधी

०

अश्रु-अर्घ्य !

श्रीनिर्भयशंकर कर्ण 'ललित'

ओ भारत के भाग्य-विधाता !
ओ बापू ! जन-जीवन-दाता
ओ पीड़ित दलितों के त्राता !
करुणा का तू सिन्धु अपार !

सत्य-अहिंसा-व्रत का योगी
विश्व शान्ति का परमोद्योगी
दया-क्षमा-रस का उपभोगी
विश्व प्रेम का तू अवतार !

न्याय-नीति की, प्रभु-प्रतीति की—
ज्वलित मशालें लेकर कर में
दानवता-तमपूर्ण प्रहर में
विश्व पंथ को आलोकित कर
आरत भारत को शोकित कर
चला गया तू विश्वाधार

राम-राज्य के सुन्दर सपने
साथ ले गया तू ही अपने
स्वार्थ विवश हम लगे कलपने
तू दे गया प्रेम उपहार

कर निज जीवन-सागर-मंथन
पाया तूने प्रेमामृत-धन
स्वयं हलाहल-प्याला पीकर

मानवता के हाथों देकर—
समता का सुन्दर अमृत-घट
छोड़ गया तू यह संसार!

जिसने सदियों के बन्धन को
कोटि-कोटि जन के क्रन्दन को
आतंकित मन के स्पन्दन को
मिटा दिया कर प्रेम-प्रसार

—जिसके हुँकारों से कम्पित
खौल उठे थे सात समुन्दर
भीत हुए थे भारी भूधर
जिसकी बीन सुरीली सुनकर
मुग्ध हुआ था भीषण विषधर

—वही विश्व बन्धुत्व-पुजारी
मानवता - हरिजन - हितकारी
स्वाधीनता - द्वार - प्रतिहारी
पशुता का बन गया शिकार!

मैं वाणी का पुत्र अकिञ्चन
अश्रु-कणों से वसुधा-सिञ्चन—
करता-तुझको अर्घ्य-समर्पण
तू हो जा अब तृप्त, उदार!

गांधीजी की महानता

श्रीमुरलीमनोहर प्रसाद, एम० एल० ए०

महात्मा गांधी के सम्बन्ध में इतना अधिक लिखा और कहा जा चुका है कि अब उनकी पुण्यस्मृति में श्रद्धा के जो अर्घ्य निवेदित किये जायँगे वे एक प्रकार से पुनरुक्ति ही होंगे। इतिहास में इस बात का दूसरा दृष्टान्त नहीं मिलता कि अन्य किसी महापुरुष के महाप्रयाण पर संसार के कोने-कोने से इस प्रकार शोकोद्गार प्रकट किये गये हों और उसके प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गयी हों। बड़े-बड़े सम्राट्, राजपुरुष, वीरनेता और राजनीतिज्ञ से लेकर विद्वानों, मनीषियों और पण्डितों ने समान रूप से उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की है। उनके देहावसान से साधारण जनता ने जिस वियोग-व्यथा का अनुभव किया है वैसा अनुभव कदाचित ही और किसी देश की जनता ने किसी महान नेता के महाप्रस्थान पर किया हो। मनुष्य में जितने श्रेष्ठ गुण हो सकते हैं गांधीजी उन सब के मूर्त्तरूप थे और उनके इन गुणों का कीर्तन देश-विदेश की वाणियों में जिस मुक्तकंठ से किया जा चुका है उससे अधिक और कोई क्या कर सकता है? फिर भी गांधीजी में एक ऐसी महत्ता थी जिसका चाहे जितना ही बखान किया जाय फिर भी वह थोड़ा ही होगा। महानता के जिस सर्वोच्च शिखर पर वह पहुँच चुके थे वह सभी युगों के लिये अप्रतिम है। इसमें सन्देह नहीं कि युग-युग में ऐसे श्रेष्ठ जननायक और महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने किसी महत् उद्देश्य के लिये अपने जीवन का बलिदान किया है और उनके इस बलिदान से महिमा शब्द सार्थक हुआ है। अपनी जाति के लिये ही वे शहीद बने थे। किन्तु इतिहास के पृष्ठों में आपको कोई ऐसा महापुरुष ढूँढ़ें भी नहीं मिलेगा जिसने अपनी जाति के लिये नहीं बल्कि एक ऐसी अन्य जाति के लिये अपने जीवन की पूर्णाहुति दी हो जो जाति एक दिन पहले तक उसे अपना सबसे बड़ा शत्रु घोषित करती थी। इस प्रकार का यदि कोई व्यक्ति आपको मिल जाय तभी आप उसकी तुलना गांधीजी के साथ कर सकते हैं। समय में हमारे दुःख की वेदना-भार को हल्का कर देने का एक बहुत बड़ा गुण होता है—दारुण से दारुण दुःख की तीव्रता को भी यह बहुत कुछ कमकर देता है। दारुण दुःख में पड़कर तत्काल के लिये हम अपने मन की सन्तुलित अवस्था और स्वच्छ दृष्टि भंगी को खो बैठते हैं। किन्तु समय बीतने पर जब हम अपने मन के सन्तुलन और स्वच्छ दृष्टिभंगी को पुनः प्राप्त कर लेते हैं तभी हम इस योग्य होते हैं कि वस्तु स्थिति पर ठीक तरह से विचार कर के निर्णय कर सकें। राष्ट्रपिता के जघन्य वध

की उस घटना को-जिसे हम कभी भूल नहीं सकते—बीते हुए कई महीने हो चुके। अब इतना समय बीत जाने पर हमें गांधी जी की विशिष्टता को समझने में आंशिक रूप में ही सही-सहायता मिल सकती है। किन्तु उनकी इस विशिष्टता की धारणा मन में होने के साथ-साथ और कितनीही बातें हमारी समझ में आ जायँगी। उनकी हत्या इसलिये की गयी कि चन्द उत्कट सम्प्रदायवादियों की दृष्टि में वह हिन्दू जाति के प्रधान शत्रु प्रतीत होते थे और हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति का विनाश-साधन करके हिन्दू स्वत्त्वों एवं स्वार्थों को नाममात्र के मूल्य पर बेच देना चाहते थे। गांधी जी के ऊपर बार-बार जो यह निष्ठुर मिथ्या आक्षेप किया जाता था और जिस के फलस्वरूप एक विषाक्त धर्ममत जैसा विकसित हो उठा था उसके सम्बन्ध में मेरा विश्वास है कि हिन्दू जाति के अन्त: करण ने अपना अन्तिम निर्णय दे दिया है। सत्य बराबर सन्देह से परे रहा है। उन्मत्त सम्प्रदायवादी जिस हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति की दोहाई दिया करते थे उस सभ्यता एवं संस्कृति ने ही तो हिन्दू जाति को इतिहास का उपहासपात्र बनाया है। यह वह सभ्यता थी जिसने मानव जाति को कई पृथक-पृथक भागों में बाँट कर तथा कर्मफल के सिद्धान्त का विकृत अर्थ लगा कर उसके अनुसार कोटि-कोटि जनता का उच्च श्रेणी के मुट्ठी भर लोगों द्वारा—जो अपने को विधाता के अनुग्रहपात्र और उसके द्वारा मनोनीत तथा अभिषिक्त समझते थे—शोषण किया जाना युक्तियुक्त सिद्ध किया था। बहुसंख्यक अध:पतित जनता के लिये स्वाधीनता का न तो कोई अर्थ रह गया था और न उसके प्रति उसकी कोई दिलचस्पी थी। इस मतवाद का परिणाम कितना भयानक सिद्ध हुआ यह किसी से छिपा नहीं है और यही मतवाद युग-युग से हिन्दुओं की दासता और अध:पतन के साथ कायम रहा है। अब तक भारत में जितने नेता उत्पन्न हुए हैं उनमें एक गांधी जी ही ऐसे थे जिन्होंने हिन्दू सभ्यता की इस नग्न वास्तविकता के स्वरूप को अपनी दिव्य दृष्टि से देखा था और उसे समस्त हिन्दू जाति की सक्रिय और व्यक्तिगत तथा वैयक्तिक एवं सामूहिक श्रद्धा के आधार पर व्यापक बनाने के महान प्रयत्न में अपने प्राणों की आहुति दी थी। वह स्वाधीनता की भावना को इस प्रकार सार्वजनीन रूप देना चाहते थे जिससे जो लोग चिर काल से बुभुक्षु, नग्न और पददलित रहे हैं वे भी उसका उपभोग कर सकें। गांधी जी उस सर्वोच्च हिन्दू मानवता तथा हिन्दू सभ्यता के पैगम्बर थे जिसका मौलिक सिद्धान्त है विश्वबन्धुत्व। वह उस हिन्दू संस्कृति के उपासक थे जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के लिये कोई स्थान नहीं है और जो संस्कृति, मानवता एवं सभ्यता इस समय बाह्य आचार-अनुष्ठान, और सम्प्रदायवाद द्वारा आच्छन्न हो रही है। गांधी जी ने हिन्दू धर्म की फिर से व्याख्या की, उसे युग धर्म के सुर के अनुकूल बनाया

और हिन्दू लोक-तंत्र की संकीर्णता और रूढ़िवाद के कूड़ा-करकटों के ढेरसे उद्धार किया। गांधी जी के प्रताप से अब हिन्दू लोकतंत्र-बन्धनों से मुक्त होकर संसार का सामना करने योग्य बन गया है।

किन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं मैं यह सोच कर हतबुद्धि हो जाता हूँ कि वर्त्तमान समय में जब कि विभिन्न आवश्यक विषयों को लेकर हमारे देश में मत-संघर्ष चल रहा है, हमारे बीच से गांधी जी का उठ जाना एक ऐसी महती एवं प्रबल-शक्ति का उठ जाना है जो इस अभागे देश में—जो अभी-अभी पराधीनता-पाश से मुक्त हुआ है और भविष्य के द्वार पर अनिश्चित रूप में खड़ा है—प्रगति और प्रतिक्रिया के बाच सेतु का काम कर रही थी। जैसा कि सब लोग जानते हैं गांधी जी सच्चे अर्थ में अराजकतावादी थे। वह किसी भी गवर्नमेण्ट में विश्वास नहीं करते थे। वह अपने ढंग से एक श्रेणीहीन राज और समाज का समर्थन करते थे। उनकी दृष्टि में धनिकवर्ग बहुसंख्यक दीन-दरिद्रों के लिये ट्रष्टी के सिवा और कुछ नहीं था। यह सच है कि वह धनी और गरीब दोनों के रक्षक थे, किन्तु यह इसलिये कि उनके अहिंसाधर्म में किसी के विरूद्ध किसा भी प्रकार के बदला के लिये स्थान नहीं था यह सच है कि उन्होंने सामाजिक लोकतंत्र या साम्यवाद जैसे आधुनिक मतवाद-संबन्धी शब्दों के रूप में कभी विचार नहीं किया, फिर भी वह एक पक्का साशलिस्ट थे क्योंकि दरिद्रनारायण की सेवा करना ही उनके जीवन का एकमात्र व्रत था। सामन्तवाद और पूँजीवाद उनके लिये ऐसी वस्तुयें थीं जिनका अपरिचित एवं अनिष्ट-जनक रूप में इस देश में विकास हुआ है और जो गांधी जी द्वारा परिकल्पित समाज-व्यवस्था के लिये सर्वथा विदेशी थीं और हैं। उनके समाजदर्शन की प्रचंड गतिशीलता में इन दोनों में से किसी के लिये भी स्थान नहीं था। इसलिये आश्चर्य्य नहीं कि शहीद होने के पूर्व वह श्रीजयप्रकाश नारायण तक पहुँचने के लिये अपने अभ्यस्त मार्ग से आगे बढ़ रहे थे। यदि वह जीवित रहते और उन्हें समय मिलता तो वह सामाजिक गणतंत्र के पक्ष में एक प्रबल शक्ति सिद्ध होते। पूँजीवाद ने इस तथ्य को भय के साथ लक्ष्य किया था और अपने इस भय को उसने छिपाने की व्यर्थ कोशिश भी की था। राजनीति के रंगमंच से उनके हटते ही पूँजीपतियों की ओर से हमला शुरू हो गया। पूँजीवादियों का आक्रमण बढ़ता जा रहा है और उनके समाचारपत्रों में समाचारों पर भी नियंत्रण होने लगा है। पूँजीवाद, सम्प्रदायवाद और जातिवाद ये सब एक ही प्रतिक्रियावादी शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं जो इस समय अपना सिर उठाने लगे हैं। गांधी जी ने देश के इस भविष्य को पहले ही ताड़ लिया था। समय की इस भावना से हताश होना तो दूर रहा, उन्होंने इस चुनौती का स्वागत किया था और वह इसलिए कि युग की प्रगति के साथ ताल मिलाकर चलने की उनमें आश्चर्य्यजनक क्षमता थी।

वह कांग्रेस और समाज के अंदर प्राचीन और नवीन के बीच आश्चर्यजनक रूप में एक समन्वय स्थापित कर रहे थे जिनकी इस समय देश को सब से बढ़कर जरूरत है। किन्तु, हाय ! देश को उनकी जिस समय सबसे बढ़कर जरूरत थी उस समय ही वह हमसे छीन लिये गये। किन्तु क्या जीवन और क्या मृत्यु, उनकी अनुप्रेरणा हमारे लिये आज भी बनी हुई है और बड़ी से बड़ी बाधाओं के होते हुए भी हम उससे वञ्चित नहीं होंगे।

o

"इंसान सिर्फ मौत से बचने के लिये ही नहीं जीता। अगर वह ऐसा करता है, तो मेरी सलाह है कि वह ऐसा न करे। उसे मेरी सलाह है कि अगर वह ज्यादा न करे, तो कम से कम मौत और जिंदगी दोनों को प्यार करना सीखे। कोई कह सकता है कि यह एक मुश्किल बात है और इस-पर अमल करना और भी मुश्किल है। मगर हर उचित और महान काम मुश्किल तो होता ही है। ऊपर उठना हमेशा मुश्किल होता है। नीचे गिरना आसान है और उसमें अकसर फिसलन होती है। जिंदगी वहीं तक जीने लायक होती है, जहाँ तक मौत को दुश्मन नहीं, बल्कि दोस्त माना जाता है। ज़िंदगी के लालचों को जीतने के लिये मौत की मदद लीजिये। ....जब वक्त आयेगा, जो कि आ सकता है, तब मैं अपनी सलाह को लोगों की कल्पना के लिये नहीं छोड़ेगा, बल्कि क्रिया की भाषा में उसे करके दिखा दूँगा। आज अगर सिर्फ़ एक या दो ही आदमी मेरी सलाह पर चलते हैं, या कोई भी नहीं चलते। इससे उसकी क़ीमत नहीं चली जाती। शुरुआत हमेशा कुछ ही लोगों से होती है। एक शब्द से भी शुरुआत होती है।"

—गांधीजी

तमसो मा ज्योतिर्गमय

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

भारत का, संसार का, इतिहास का सबसे बड़ा आदमी चल बसा !

हिमालय तिरोहित हो गया; हिन्द महासागर सूख गया। अनवरत अश्रुप्रवाह से कोटि-कोटि आँखें उस महासागर को भरना चाह रही हैं, कोटि-कोटि कंठ चित्कारों से उस हिमालय को एकबार फिर आकाश चूमने के लिए आह्वान कर रहे हैं ! किन्तु सारे प्रयत्न व्यर्थ जा रहे हैं !

हमारी धरती सूनी है, हमारा आकाश सूना है। हमारी वह हालत है, जो एकाएक सूर्य के टूट गिरने से कभी अखिल भुवन की हो सकती है ;

हम जो कुछ हैं, हमारा देश आज जो कुछ है, उसके निर्माण का श्रेय उसका है ! धूल के कणों में उसने ज्योति दी—उन्हें चमकना सिखलाया ! मुर्दा राष्ट्र को उसने मंत्रबल से खड़ा किया, उसे लड़ना सिखलाया। लड़ना सिखाया; लड़ते-लड़ते मरना और विजय पाना सिखलाया। महान अशोक के बाद आसेतु हिमाचल पर चक्रवर्ती राज स्थापित करने का स्वप्न उसीने देखा और उसे सत्य कर दिखाया।

उसने हमें सिर्फ स्वतंत्र देश ही नहीं दिया, उस देश को वेष दिया, भूषा दी। भूषा दी, भाषा दी। व्यक्तिगत चरित्र का एक कोड दिया; राष्ट्रगत चरित्र का एक स्टैण्डर्ड दिया।

आज का जो हिन्दुस्तान है, वह गांधी का हिन्दुस्तान है। गांधी का यह हिन्दुस्तान उसके पवित्र रक्त से स्नान कर अमर हो—देवता, अगर हम तुम्हारे आशीर्वाद के पात्र रह गये हों, तो यही वरदान दो !

× × ×

भारत का, संसार का, इतिहास का सबसे बड़ा आदमी चल बसा !

चल बसा ? काश, यही हो पाता !

गांधी बूढ़ा था, उसे जाना था। वह जाता, हम उसके बेटे रोते ! उस दिन भी रोते ! किन्तु, हमारे, हमपर तो पितृहंता का कलंक लगना था ! जिसने हमारे लिए इतना किया, अपने उस राष्ट्रपिता को हमने शान्ति की मौत भी मरने नहीं दिया !

गांधी पर गोली ! —एक नहीं, दो नहीं, तीन-तीन ! ये तीन गोलियाँ—तीनों काल पर, तीनों लोक पर चलाई गईं गोलियां निकलीं ये !

हम कहीं के नहीं रहे, हम कभी के नहीं रहे।

इतिहास हम पर थूकेगा! संसार हम पर हिकारत की निगाह डालेगा! यह पाखंडी देश; अपनी सभ्यता की इतनी शेखी बघारता था यह; अपने एक संत को भी नहीं जीने दिया इसने!

यह मत कहो कि एक पागल ने उसे मार डाला! एक महान अपराध हम कर चुके हैं; दूसरा करेंगे तो हमारे लिए जहन्नुम में भी जगह नहीं मिलेगी!

गोड्से! वह नारकीय जीव! किन्तु वह हमारे तुम्हारे हृदयों में बसी ईर्षा-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा और प्रभुत्व की आकांक्षा का प्रतीक है—यदि हम आज भी इसे समझ नहीं पाते, तो हम गये! हमें सर्वनाश से कोई बचा नहीं सकता!

गोड्से को हमने पाल रखा था! हमने उसे नज़र-अन्दाज़ किया, बढ़ावा दिया और सत्य का तकाज़ा है कि हम कहें—हमने उसे इन्हीं घृणित कार्यों के लिए ही दूध पिला पिला कर पोसा था!

अब, जब "इस घर में आग लग गई, घर के चिराग़ से!"—तो शोर मचा रहे हैं, आंसू गिरा रहे हैं! इस ढोंग को इस पवित्र और करुण अवसर पर भी तो हम दूर करें!

यदि इतना नहीं किया; तो याद रखो, हमारी-तुम्हारी भी वही हालत होगी, जो ईसा को फाँसी देनेवाली क़ौम की हुई और हो रही है!

यहूदियों के पास क्या नहीं है—धन, विद्या, बुद्धि, कला, विज्ञान—किस क्षेत्र में उनका बोलबाला नहीं! किन्तु सब होने पर इस विशाल संसार में एक इंच जमीन भी ऐसी नहीं, जिन्हें वह अपनी शरणस्थली कह सकें!

सावधान हिन्दुस्तान; सावधान ओ गांधी के हम बेटो!

× × × ×

गांधी, बापू, तुम अमर हो! अपनी अमरता पर तुमने अपने पवित्र रक्त की मुहर लगा दी! कोई भी विनाशक शक्ति इस अमरता की ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकती!

इस धराधाम पर बड़े-बड़े लोग आये—बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, मार्क्स! किन्तु, तुम इन सब में निराले थे! निराले थे तुम; निराली थी तुम्हारी राह!

बुद्ध की करुणा, ईसा का बलिदान, मुहम्मद की हकपरस्ती और मार्क्स का अनुसंधान—सब का समन्वय हुआ था तुम्हारे अलौकिक व्यक्तित्व में।

वह पुश्त धन्य है, जिसने तुम्हें धरती पर चलते-फिरते देखा; आंधी उठाते और तूफान बरपा करते देखा; आंधियों और तूफानों में भी मुस्कुराते देखा और फिर एक मुस्कान-भरी चितवन में शान्ति की असंख्य किरणें बिखेरते देखा!

तुम इतने बड़े थे, इतने निराले थे कि हम तुम्हें समझ नहीं सके ; समझ भी नहीं सकते थे !

किन्तु, तुम नहीं रहे—तुम्हारे चरण-चिन्ह हमारी आँखों के सामने अब भी चमकते नज़र आ रहे हैं !

वे चरण-चिन्ह हमारा पथप्रदर्शन करेंगे ।

हम उन्हें देखते हुए आगे बढ़ेंगे और संसार में एक समाज बनावेंगे, जिसमें हिंसा न हो, युद्ध न हो; जिसमें छोटे-बड़े का भेदभाव न हो ; जिसमें दरिद्रता न हो, विलासिता न हो । जहाँ सब समान हों, सब भाई-भाई हों ! जहाँ प्रेम हो, सत्य हो, शांन्ति हो !

राष्ट्रपिता, तुम अमर थे, अमर हो गये ! हम अपराधी अनाथ बच्चों को आशीर्वाद देते जाओ कि इस पवित्र आदर्श पर हम बढ़ते चलें, बढ़ते चले !

बापू, आज चारो ओर अँधकार ही अँधकार है—उपनिषद के शब्दों में तुमसे हम प्रार्थना कर रहें हैं—तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

•

मानव जाति के कल्याण-साधन द्वारा ही मैं भगवान को जानने की चेष्टा कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ भगवान उर्ध्वाकाश में या धरती के नीचे वास नहीं करता। वह प्रति मनुष्य के अंदर विराजमान् है।

—म० गांधी

सारे संसार को प्रसन्न करने के लिये मैं ईश्वर का विरोधी नहीं बन सकता।

म० गांधी

जीवन में मैंने कभी आशा का परित्याग नहीं किया। घोर अन्धकार के बीच भी मेरे अन्तर में आशा का उज्ज्वल आलोक जलता रहता है। उस आशा को मैं स्वयं नष्ट नहीं कर सकता।

—म० गांधी

कस्तूरबा

श्री ए० पी० अग्निहोत्री, पी० एच० डी०

वीसवीं शताब्दी की मानवता के एकमात्र नेता, मुक्तिकाम भारतवर्ष के गुरु तथा स्वाधीन भारतीय राष्ट्र के जनक विराट् महापुरुष गांधी के पार्श्व में खड़ी होकर जिस महीयसी नारी ने आजीवन सुख-दुःख में उनका साथ दिया और एक वीर नारी की तरह धर्म के समस्त गौरव को गरीयान करके सहधर्मिणी शब्द को चरितार्थ करते हुए प्राणत्याग किया उसका नाम था कस्तूरबा गांधी।
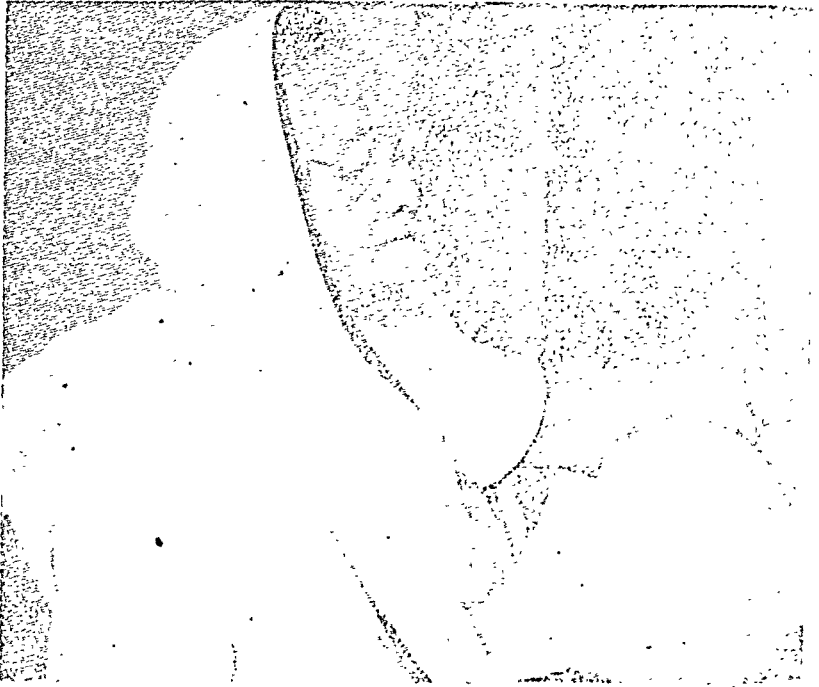
उनके तिरोधान से कोटि-कोटि भारतवासियों न ऐसा अनुभव किया मानों एक ममतामयी मातृस्वरूपा नारी उनके हृदय को व्यथित कर के सदा के लिये उनसे बिछुड़ गयी। गांधी जैसे महापुरुष की धर्मपत्नी बनने की गौरवगरिमा उन्हें प्राप्त थी केवल इसी लिये उन्होंने हमारी श्रद्धाभक्ति प्राप्त नहीं की थी। गांधी जी की गृहिणी, सचिव, सखी और प्रिय शिष्या के रूप में उन्होंने आजीवन जिस आदर्श

का पालन किया, उससे उनका व्यक्तित्व इतना मधुर एवं महिमोज्ज्वल बन
था कि वह देशवासियों की दृष्टि में वात्सल्यमयी जननी की तरह पूज्या बन
थीं। उनके पतिदेव के विराट् व्यक्तित्व तथा उनकी मनीषी, तपस्या
साधना पर हम विस्मयविमुग्ध थे, किन्तु कस्तूरबा हमारी दृष्टि में केवल
स्वरूपा थी। आदर्श पत्नी के रूप में उन्होंने अपने चरित्र के सहज स्वाभा
सौन्दर्य, सरलता, शुचिता, तेजस्विता एवं अनमनीय निष्ठा द्वारा भारतीय गृ
के गृहधर्म को एक नूतन प्रेरणा प्रदान की है। ऐसा लगता है कि महात्मा
और हम साधारण जनों के बीच कस्तूरबा ने ही मानवता के स्निग्ध मधुर स
को सजीव बनाये रखा था। कस्तूरबा के व्यक्तित्व का अभिषेक पाकर प्रखर
एवं अपूर्व महिमाधारण करते हुए भी महात्मा गांधी हमारी दृष्टि में आत्मीय
गये थे।

एक बालिका बधू के रूप में कस्तूरबा ने जिस तेज एवं दृढ़ता का परिचय
था उसका उल्लेख गांधी जी ने अपनी आत्मजीवनी में किया है। बालक
अपनी बालिका पत्नी को सर्वथा अपनी वशवर्त्तिनी बना कर रखना चाहता था।
इस तेजस्विनी नारी के लिए यह सह्य नहीं था कि वह पति के निषेधों को
भाव से ग्रहण कर ले और अपनी स्वाधीन इच्छा को सर्वथा कुचल डाले।
जी ने कस्तूरबा के इस तेजस्वी स्वभाव एवं दृप्त स्वाभिमान का यों वर्णन
है : उसने निश्चय जैसा कर लिया था कि जहाँ जब उसकी इच्छा होगी वह जाय
जितनी ही मैं उसके ऊपर रोकथाम लगाता था उतनी ही वह अपने कामों
स्वाधीन बनती जाती थी। इससे मेरी खिन्नता और भी बढ़ती ही जाती थी। "
खिन्न होने पर भी अपनी जीवनसंगिनी के इस विद्रोही रूप के प्रति पा
आकर्षण बढ़ता ही जाता था। मानिनी नारी के इस मान-माधुर्य पर पति वि
मुग्ध था इसका वर्णन उसी के शब्दों में सुनिये : "मैं अपनी पत्नी के प्रति अ
विषयासक्त था। स्कूल में भी उसका ध्यान आता, और यह विचार मन में
ही करता था कि कब रात हो और कब हम मिलें। वियोग असह्य हो जाता
कितनी ही ऊट-पटांग बातें कह-कह कर मैं कस्तूरबाई को देर तक सोने न देता।"

एक सहृदय मानव के रूप में गांधी जी के चरित्र का यह जो स्निग्ध मधुर रूप
सामने उपस्थित होता है यही तो उन्हें हमारा आत्मीय बना डालता है। याद
में यह भावुकता नहीं होती, हृदय का आवेग इतना बल नहीं होता तो क्या
विषयासक्त गांधी से कौपीनधारी सर्वत्यागी तपस्वी बन सकते थे? एक
यदि यह भावप्रवणता और हृदयावेग तो दूसरी ओर ज्वलन्त कर्तव्यबोध—इ
गुणों के संमिश्रण ने गांधी चरित्र को वज्र की तरह कठोर और कुसुमवत
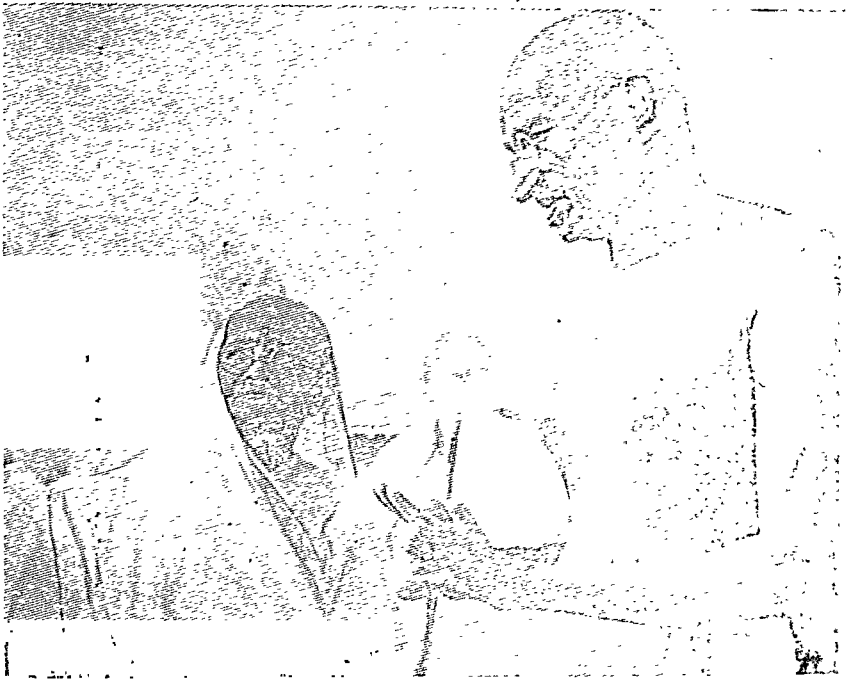
'बा' के साथ

चियांगकाई शेक के साथ

गांधीजी पं० जवाहरलाल के साथ
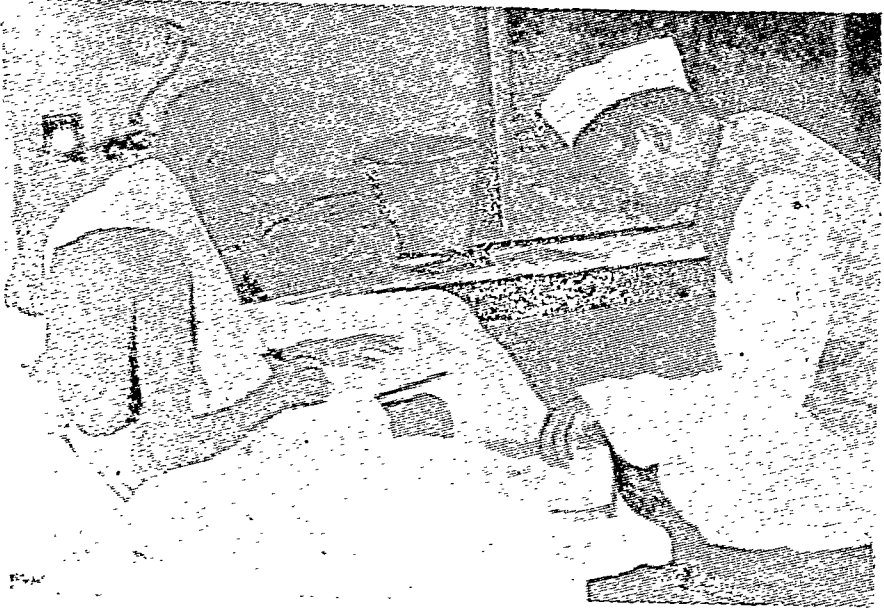
मल बना दिया था। गांधी जी ने लिखा है : "इस भोगासक्ति के साथ ही यदि मुझ में कर्त्तव्यपरायणता न होती तो, मैं समझता हूँ या तो किसी बुरी बीमारी में फँसकर अकाल ही काल कवलित हो जाता अथवा अपने और दुनिया के लिये भारभूत होकर वृथा जीवन व्यतीत करना होता।"

एक ओर हृदयावेग या भावुकता और दूसरी ओर कर्तव्यपरायणता इन दोनों के बीच जब द्वन्द्व उपस्थित होता है उस समय ही तो मनुष्य के चरित्र की अग्नि-परीक्षा होती है। उस अग्निपरीक्षा में तपकर ही मनुष्य का चरित्र सब प्रकार के कलमष से मुक्त होकर सुवर्ण की तरह दीप्त हो उठता है। जो अपने हृदय के भावावेश को, अपनी कर्तव्य बुद्धि द्वारा नियंत्रित कर अपनी साधना के मार्ग पर अग्रसर होते हैं सफलता उन्हीं के चरणों की दासी बनती है। गांधी जी में भी भावुकता थी, भावावेश था, किन्तु इसके साथ ही उनमें कर्तव्यबोध भी बराबर जागरुक था जिसके कारण वह अपनी भावुकता को संयत रखकर अपने जीवन को महिमाशाली बनाने में समर्थ हुए।

कस्तूर बा एक आदर्श हिन्दू पत्नी के रूप में जीवन पर्य्यन्त पति की छाया बनी रही। पति की अनुगामिनी बनी रहने में ही उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा। उनकी प्रकृति में नारीसुलभ विनयशीलता एवं शालीनता, सहिष्णुता, एवं आत्म समर्पण की भावना थी। किन्तु इसके साथ ही उनमें स्वाभिमान और स्वातंत्र्य प्रियता भी थी। इस स्वातंत्र्यप्रियता के कारण ही उनका तेजोदीप्त चरित्र कभी-कभी पति के कार्य्यों का प्रतिवाद किये बिना नहीं रहता। किन्तु प्रतिवाद करके भी एक हिन्दू नारी की सहज विनयशीलता उसे अपन पति की इच्छा के सामने नत हो जाने के लिए विवश कर देती थी, तभी तो एक आदर्शवादी के रूप में गांधी जी ने अपनी पत्नी के साथ जो कठोर व्यवहार किया उसे उसने मौन भाव स सहन कर लिया। यदि कस्तूर बा में यह सहनशीलता न होती तो उनका दाम्पत्य जीवन क्या इतना सुखमय एवं मधुर हो सकता था? कस्तूरबा में इस असीम धैर्य्य और सहिष्णुता को देख कर ही गांधी जी के मन में नारी जाति के प्रति आदर की भावना जागरित हुई थी। उन्होंने लिखा है, "केवल हिन्दू स्त्री ही इस प्रकार की कठिनाइयों को सहन कर सकती है और यही कारण है कि मैंने स्त्री को सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति माना है," कस्तूरबा की धर्मनिष्ठा एवं दृढ़ता का उल्लेख करते हुए गांधीजी ने उनके जीवन के एक प्रसंग का यों वर्णन किया है। गांधीजी की अनुपस्थिति में बा डरबन में सांघातिक रूप में बीमार पड़ी। गांधीजी उस समय जोहान्सबर्ग में थ। डाक्टर ने उन्हें टेलिफोन किया—"आपकी पत्नी को मैं मांस का शोरबा और 'बीफटी' देने की जरूरत समझता हूँ। मुझ इजाजत

दीजिए।" गांधीजी खुद इस के लिये अनुमति नहीं दे सकते थे। किन्तु इस संबन्ध में वह अपनी बीमार पत्नी से पूछना अपना धर्म समझते थ। उन्होंने डाक्टर से उन की जो बातचीत हुई थी उसे थोड़े में कस्तूर बा को समझा दिया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—', मैं मांस का शोरबा नहीं लूंगी। यह मनुष्य-देह बार-बार नहीं मिला करती। आपकी गोद में मैं मर जाऊँगी, परवाह नहीं; पर अपनी देह को मैं भ्रष्ट नहीं होने दूँगी"

गांधीजी ने अपनी आत्मजीवनी में दाम्पत्य जीवन के कुछ ऐसे प्रसंगों का भी वर्णन किया है जिन से कस्तूरबा का चरित्र अत्यन्त मधुर हो उठा है। गांधीजी एक ओर यदि सहृदय और प्रेमी पति थे तो दूसरी ओर वह निष्ठुर और कठोर भी थे। आदर्शवादी होने के नाते कस्तूर बा के साथ उनका व्यवहार कभी-कभी निष्ठुरता की सीमा पर पहुँच जाता था। गांधीजी जब डरबन में वारिष्टरी करते थे उनके साथ उनके कारकून भी रहा करते थे। इन कारकूनों में एक ईसाई था। घर की बनावट पश्चिमी ढंग की थी। इस कारण कमरे में मोरी नहीं होती थी। पेशाब के लिये एक अलग बर्त्तन होता था। उसे उठा कर रखने का काम गांधीजी स्वयं और कस्तूर बा-दोनों करते थे। और कारकून तो खुद ही अपना बर्त्तन साफ कर लेते थे मगर वह ईसाई नवागत था इसलिये उसके मूत्र-पात्र को उठाकर साफ करने का भार गांधीजी को लेना पड़ा। और बर्त्तन तो कस्तूर बाई उठाकर साफ कर लेती, लेकिन एक अस्पृश्य का बर्त्तन उठाना उन्ह असह्य मालूम हुआ। किंतु गांधीजी छोड़ने वाले थोड़े ही थे। दोनों में इस विषय को लेकर कलह का सूत्रपात हुआ। किन्तु आखिर पत्नी को मजबूर होकर यह काम करना ही पड़ा। गांधीजी ने लिखा है: "खुद उसके लिये उठाना कठिन था। फिर भी आँखों से मोती की बूंदें टपक रही हैं, एक हाथ में बर्त्तन लिये अपनी लाल-लाल आँखों से उलाहना देती हुई कस्तूर बा सीढ़ियों से उतर रही है। वह चित्र मैं आज भी ज्यों का त्यों खींच सकता हूँ।"

किन्तु इतने पर भी गांधीजी के उत्कट आदर्शवाद को संतोष नहीं हुआ। वह चाहते थे कि इस कार्य को करते हुए कस्तूर बा के मन म किसी प्रकार की ग्लानि या घृणा की भावना न रह जाय। वह प्रसन्नमन से इस कार्य्य को करे। गांधीजी ने बा से कहा—"देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में नहीं चल सकेगा, इस पर अपमानित पत्नी ने उत्तर दिया—"तो लो, रखो यह अपना घर! मैं चली!" इस पर गांधीजी ने बा का हाथ पकड़ा और उन्हें खींच कर दरवाजे तक ले गये। दरवाजा आधा खोला होगा कि आँखों में गंगा-जमुना-बहाती हुई पत्नी बोली—"तुम्हें तो कुछ शर्म है नहीं; पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकल कर आखिर जाऊँ

कहाँ ? माँ—बाप भी यहाँ नहीं कि उनके पास चली जाऊँ। मैं ठहरी स्त्री-जाति। इसलिये मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब जरा शर्म करो और दरवाजा बंद कर लो—कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।"

गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौट रहे हैं। नेटाल के प्रवासी भारतीयों ने उनकी विदाई के उपलक्ष में स्थान-स्थान पर उन्हें अभिनन्दनपत्र देने का आयोजन किया। उपहार में बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुयें भी दी गयीं। लोकसेवा के फलस्वरूप ही जो ये उपहार उन्हें मिले थे। उपहार में सोना-चाँदी की वस्तुओं के अलावा एक पचास गिनी का हार कस्तूर बा के लिये था। जिस दिन संध्या काल में गांधी जी को ये सब उपहार की वस्तुयें मिलीं उन्हें रात में नींद नहीं आयी। इन वस्तुओं को ग्रहण करना क्या लोकसेवा का मूल्य स्वीकार करना नहीं होगा। निःस्वार्थ लोकसेवा का मूल्य कैसा ? और गांधी जी ने तो अपरिग्रह का व्रत अपने लिये ग्रहण कर लिया था। इसलिये बहुत-कुछ विचार मन्थन के बाद यह निश्चय किया गया कि उन गहनों को अपने लिये ग्रहण न किया जाय और इनका एक ट्रस्टी बना दिया जाय। अपनेलिये तो द्वन्द्व का सहज ही अवसान हो गया किन्तु पत्नी के लिये तो गहने का लोभ त्याग करना उतना सहज नहीं था। गांधी जी ने जब बा के सामने अपना संकल्प प्रकट किया तो वह बोली "तुम्हें चाहे इन गहनों की जरूरत न हो। मुझे न पहनने दो; पर मेरी बहुओं को तो जरूरत होगी ? इन गहनों को मैं वापस नहीं देने दूँगी। और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक है ?" हाय ! पत्नी की कितनी साध थी कि देश लौटने पर वह अपने पुत्र का व्याह करेगी और जब उसकी बहू घर आयगी तो वह कितनी लालसा और कितना स्नेह से यह प्रेमोपहार उसे भेंट करेगी। युवती पुत्र-वधू के गल में इस आभूषण को देखकर उसके नयन जुड़ा जायेंगे। पत्नी की आँखों से अविरल अश्रुधारा चल रही है। किन्तु गांधी अब भी अपने संकल्प पर दृढ़ बने रहे। अन्त में बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर पत्नी ने उस बहुमूल्य हार का त्याग करना स्वीकार किया। कस्तूर बा का जीवन जितना ही महिमामय है उतनाही विचित्रतापूर्ण भी। अपने त्यागव्रती पति की सहधर्मिणी के रूप में उन्होंने अपने पति के समस्त कार्य्यों में—उनके व्रत और साधना मे अम्लानवदन साथ दिया। दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह आन्दोलन से लेकर सन् १९४२ के विप्लव-आन्दोलन तक के इतिहास में गांधी जी के नाम के साथ-साथ कस्तूर बा का नाम भी अमर रहेगा। कठोर धैर्य्य और सहन शीलता के साथ उन्होंने अपने पति का अनुगमन किया। इस प्रकार की सह-धर्मिणी को प्राप्त करके ही तो गांधी जी लोकोत्तर महिमा लाभ करने में सफल हुए थे। कस्तूर बा सब बातों में गांधी जी के साथ सहमत न होने पर भी अपने व्यवहार के कारण उनके लिये कभी भारस्वरूपा न बनीं। आदर्शवादी पति की पत्नी होने के

कारण उन्हें अपने पति के कठोर व्यवहार अवश्य सहन करने पड़े किन्तु फिर भी उनके दाम्पत्य-जीवन म कभी कटुता या तिक्तता का समावेश न हो सका, कस्तूर बा ने पति के जीवन की कठोरता का अनुवर्त्तन किया और अन्ततः वह भी अपने पति के समान ही त्याग एवं दुःख के दुर्गम पथ पर चलने के आदी बन गयीं। यदि यह बात नहीं होती तो ६२ वर्ष की अवस्था में हम उन्हें स्वाधीनता संग्राम में कारागार का दुःख वरण करते नहीं पाते। उनके जीवन व्यापी त्याग एवं धैर्य्य की बात जब हम याद करते हैं तब हमारा हृदय श्रद्धा से भर जाता है। जिस समय कस्तूरबा राजकोट के सत्याग्रह संग्राम में कारागार वरण करने जा रही थी उस समय उनके स्वास्थ्य का अवस्था कितनी सोचनीय थी इसकी चर्चा करते हुए गांधी जी ने अपने 'हरिजन' पत्र में लिखा था : "बा ने राजकोट जाने के लिये मेरी अनुमति माँगी। मैंने कहा—इतना दुर्वल शारीर लेकर जाना ठीक नहीं। इससे कई दिन पहले दिल्ली में स्नान करते समय उसे मूर्च्छा आ गयी थी। देवदास वहाँ मौजूद था जिससे उसकी प्राण रक्षा हो गयी, अन्यथा स्नानागार में ही उसकी मृत्यु हो जाती।"

इस प्रकार का भग्नस्वास्थ्य और दुर्वल शरीर लेकर वृद्धावस्था में जिस महिला ने स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया था उसका हृदय कितना निर्भीक और चरित्र कितना पुण्योज्ज्वल था। इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सीता, सावित्री, दमयन्ती की पुण्य कथायें हमने पुराणों में पढ़ी हैं। आधुनिक भारत में उन्हीं पुण्य श्लोका देवियों की विग्रह मूर्त्ति बनकर कस्तूरबा हमारे बीच आयी थीं। मातृत्व के स्निग्ध ज्योति से विमण्डित कस्तूरवाई को देखकर हमारे हृदय में भारत की नारी जाति के प्रति असीम श्रद्धा का उद्रेक होता है। भारत के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में महात्मा गांधी के नाम के साथ-साथ कस्तूरबा का नाम भी चिरकाल तक अक्षुण्ण वना रहेगा।

•

"बाल्यकाल में मेरा जो धर्मविश्वास था, जीवन की संध्या में भी मैं उससे भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ। मैं विश्वास करता हूँ जिस धर्म का मैं अनुरागी और उपासक हूँ उस धर्म की रक्षा के लिये भगवान यंत्ररूप में मेरा व्यवहार करेंगे। हाँ, इतना अवश्य है कि कोई भी मनुष्य भगवान के हाथ का यंत्र तभी बन सकता है जब कि इसके पूर्व वह धर्म के मूल तत्त्वों से परिचित हो जाय और सर्वदा उनका पालन करते हुए अपने को इस योग्य बना ले।

—म० गांधी

भारतीय शिक्षण-क्षेत्र में गांधी जी की देन

—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए०, पी० एच० डी०, ए० आइ० ई०, एफ० आर० ए० एस० ।

आधार (शिक्षा, बुनियाद) तालीम या मौलिक शिक्षा—जिसे अंग्रेजी में Basik Education कहते हैं—दिन प्रतिदिन भारत में जोर पकड़ती जा रही है । विशेषतः बिहार में । इस शिक्षा की मूल प्रेरणा महात्मा गांधी से मिली है और उन्हीं के तत्त्वावधान में सेवाग्राम, वर्धा (सी० पी०) में इसके प्रयोग हुए हैं जिनकी देखादेखी बिहार ने भी अपनी योजना कार्यान्वित की है । जब महात्मा जी ने उस समय की प्रचलित स्कूलों और कालिजों की शिक्षाप्रणाली की ओर दृष्टि दौड़ाई तो उन्होंने देखा कि भारत के बच्चे बच्चियों को जो शिक्षा मिलती है वह—

(क) राष्ट्रभावना से शून्य है ;
(ख) कोरी दिमागी और कर्मण्यताहीन है ;
(ग) विदेशी भाषा के माध्यम से दी जाती है;
(घ) भारत जैसे गरीब देश के लिये अधिक खर्चीली है ।

अतः उन्होंने शिक्षाप्रणाली में आमूल परिवर्त्तन करने को सोचा । हम उपर्युक्त चार बिन्दुओं के आधार पर यह बताने की चेष्टा करेंगे कि महात्माजी के उनके संबन्ध में क्या विचार थे ।

(क) जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गान्धी ने सत्य और अहिंसा के ऐसे आदर्श हमारे सामने रक्खे जो आधुनिक हिंसापरक पशुत्वपरायण दुनिया की समझ में आने कठिन थे, उसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने जो लक्ष्य रखे उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि पाठशालाओं में मानवता और सदाचार की दिव्य भावनाएँ जीवन सूत्र में पिरो दी जायँ । प्रत्येक छात्र को अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम हो जाय । जन्मभूमि से प्रेम होने का अर्थ है उसकी जनता से प्रेम होना, ग्रामीण जीवन से प्रेम होना और ग्रामों में होनेवाले उद्योग धंधों का ज्ञान होना।

अंग्रेजों ने जिस शिक्षा पद्धति को हमारे देश में चलाया उसने कुछ पढ़े लिखे "बाबू" पैदा किये और उन बाबुओं तथा असंख्य ग्रामवासिनी भोलीभाली जनता के बीच बहुत गहरी खाई खोद दी । यहीं नहीं कि पढ़े लिखे लोगों ने दिहातियों, कृषकों और मजदूरों से घृणा करनी शुरू कर दी अपितु अपने ज्ञान अथवा 'दुर्ज्ञान' की पूंजी की दुहाई देते हुए उन्हें चूसने, नोचने-खसोटने भी लगे । गांधीजी ने विचारा

कि क्यों न ऐसी शिक्षा दी जाय जो सब को ग्रामीण बना दे, अथवा कमसे कम, ग्रामोद्योग प्रेमी बनादे।

(ख) विदेशी शिक्षापद्धति की दूसरी त्रुटि यह थी कि वह बच्चों के मनोविज्ञान, उनकी आवश्यकताओं, उनकी सहजप्रवृत्तियों को संतुष्ट करने में असमर्थ थी। सारे विश्व में यह बात अब स्वीकृत की जा चुकी है कि बचपन का जीवन क्रिया प्रेमिक है ; बच्चा अपनी दुनियां को जानने के लिये दिमाग का उतना सहारा नहीं लेता जितना अपने हाथ पैर का, अपने विविध अंगों का। अतः हमें भी उसे ऐसी ही प्रणाली से ज्ञानोपार्जन कराना चाहिये जिसमें वह अपने हाथ-पैर, आँख, नाक, कान, मुख आदि का प्रयोग करता रहे और चलते-फिरते-जीते हुए सीखता रहे। बच्चा कोई वैसा घड़ा नहीं जिसमें शिक्षक अपने मस्तिष्क-कूप से जल निकाल कर उसमें उड़ेल दे; कोई भुसौल नहीं जिसमें इतिहास, भूगोल, हिसाब आदि के अनाज का भूसे सहित "कोंच" दिया जाय। प्रत्येक ज्ञान द्विकोटिक होता है जिसमें गुरु और शिष्य दोनों सक्रिय भाग लेते हैं। कुछ शिक्षा शास्त्रियों का तो यहाँ तक कहना है कि छात्रों की ज्ञानार्जन विधि में गुरु की आवश्यकता है ही नहीं, और है भी तो नगण्य, उनका असली गुरु है संसार, प्रकृति, समाज, वातावरण।

इसलिये हमें आवश्यक है कि हम बच्चों को स्वतंत्रतापूर्वक हाथ-पैर आदि से क्रियात्मक प्रयोग करने दें। अबतक की दूषित शिक्षाप्रणाली ने दिमागी योग्यता को इतना ऊँचा स्थान दे रखा है कि शारीरिक श्रम और श्रमजीवियों को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा है। होना चाहिये इसके विपरीत, अथवा कम से कम शारीरिक श्रम को यथेष्ट गौरव मिलना चाहिये। दिमाग और शरीर दोनों के समन्वित विकास से ही व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास सम्भव है अन्यथा नहीं। अबतक की पढ़ाई निरा दिमागी ही नहीं, अपितु निरूद्देश्य भी रही है। महात्मा जी ने अपने लेखों और भाषणों में कईबार इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि हजारों हजार नवयुवक बी० ए०, एम० ए० तक पढ़-लिखकर भी यह नहीं जान पाते कि संसार में उन्हें क्या करना है। कारण यही है कि आरंभ से ही उनकी शिक्षा क्रियात्मक, ठोस जीवन से विछिन्न रही है।

अतः उन्होंने शिक्षा का मूल सिद्धान्त रखा उसे आधारयुक्त बनाना, किसी न किसी उद्योगधंधे के माध्यम से ही सभी विषयों का ज्ञान कराना। कताई बुनाई, बढ़ईगिरी, लोहे का काम, चमड़े का काम, खेती, बागवानी आदि अनेकानेक ऐसे धंधे हैं जिनके आधार पर भाषा इतिहास, भूगोल, गणित आदि सभी विषयों का सच्चा उपयोगी ज्ञान हो सकता है। यही कारण है कि इस शिक्षा का नाम बुनियादी अथवा साधारण शिक्षा रखा गया।

(ग) भारत में प्रचलित आजतक की शिक्षापद्धति की एक बहुत बड़ी त्रुटि यह भी थी कि प्रारम्भ से ही बच्चों को अंग्रेजी पढाई जाती थी और उसी के माध्यम से अन्य विषयों का ज्ञान कराया जाता था, यह नीति कितनी अस्वाभाविक, अराष्ट्रीय तथा घातक थी—इसका अनुभव धीरे-धीरे होने लगा और अब प्रत्येक विश्वविद्यालय में इसतरह का नियम बनाया जा रहा है कि न केवल स्कूल की शिक्षा, बल्कि कालिजों की उच्चतर शिक्षा भी मातृभाषा अथवा भारतीय राष्ट्रभाषा के द्वारा दी जाय। महात्मा गांधी ने जो शिक्षा की योजना रखी उसमें भारतभाषा को मूर्धन्य स्थान दिया और राष्ट्रभाषा को भी उचित महत्त्व दिया। सारे विश्व में शिक्षाशास्त्रियों ने यह सिद्धान्त मुक्तकंठ से स्वीकार कर लिया है कि शिक्षा का मुख्य अंग है प्रतिपाद्य विषम, न कि उसका माध्यम; और शैशव में मातृभाषा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपयुक्त माध्यम हो ही नहीं सकता। शिक्षा का मापदंड यही है कि व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में उसका कैसा सफल उपयोग करता है, न कि यह कि वह तोते के समान कितना अधिक ज्यों का त्यों दुहरा सकता है। हमें विश्वास है कि सोवियत् रूस की नाई हमारी सरकारें भी राष्ट्रभाषा के स्वस्थ विकास का ध्यान रखते हुए भी तत्तत प्रदेशों की मातृभाषाओं को भी सींचकर पनपने और फलने फूलने देंगी।

(घ) बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा तैयार करने में महात्मा गांधी को भारत की गरीबी पर भी ध्यान रखना पड़ा था, खासकर इस कारण कि जब जब यहाँ पर शिक्षा संबन्धी कार्यों के विस्तार का प्रश्न आता था तो हमारे अंगरेज शासक आर्थिक संकट की दुहाई दे कर उसे टाल देते थे। अतः गाँधीजी ने सोचा कि क्यों नहीं ऐसी शिक्षा-पद्धति निकाली जाय जिसमें स्कूलों में पढ़ने वाले लड़के अपना तथा अपने गुरुओं का खर्च आप ही निकाल लें। गांधीजी की योजना के इस पहलू पर जितने तीव्र कटाक्ष हुए हैं उतने शायद किसी अन्य पर नहीं हुए। आलोचकों का कहना था और है, कि शिक्षा देना कोई तुरत का सौदा या व्यवसाय नहीं कि रुपया लगाया और फायदा जाहिर हुआ। यह तो एक ऐसी पूंजी है जो बचपन में अर्जित की जाती है किन्तु जिसका लाभ हमें मिलता रहता है जिन्दगी भर। दुनियां में कहीं भी शिक्षा का इतना संकुचित दृष्टिकोण नहीं है और न ऐसा संभव ही है कि शिक्षा सर्वतोभावेन आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाय। इस संबन्ध में महात्मा गांधी अथवा जाकिर हुसेन कमीटी की रिपोर्ट यह नहीं कहती कि जमीन, मकान आदि सभी खर्च पढ़नेवाले छात्रों की बनाई हुई चीजों की आय से निकाली जा सकती हैं, बल्कि यह कि यदि पर्याप्त साधन

सरकार और जनता की ओर से मिल जाय तो शिक्षक और शिक्षित दोनों अ
जीविका मात्र के लिये जरूरी खर्च अवश्य निकाल ले सकते हैं।

भारत में स्वराज्य प्राप्ति के बाद हमारी आर्थिक समस्याएँ उतनी जी
नहीं हैं जितनी पहले थी; कम से कम हमारी वह परवशता अब नहीं है
अंगरेजों की अधीनता में थी। ऐसी दशा में महात्मा गांधी का यह जो आ
है कि प्रत्येक स्कूल स्वावलंबी हो शायद परिस्थिति के अनुसार बदलना प
और वास्तविक प्रयोग में वह जा भी रहा है।

शिक्षा—राष्ट्रीय रचनात्मक शिक्षा—सभी सुधारों की जननी है;
किसी भी राष्ट्र को इसके विकास के लिये अधिक से अधिक व्यय करने में
नहीं हिचकना चाहिये। एक शिक्षित नागरिक स्वयं ही राष्ट्र की स
मूल्यवान संपत्ति है।

●

पहले भी मेरे जीवननाश की चेष्टा हो चुकी है। किन्तु भगवान ने मे
रक्षा की है। आक्रमणकारी ने अपने कर्म के लिये अनुताप किया
संसार से एक पापी मनुष्य को दूर कर देने की इच्छा से यदि कोई
ऊपर गोली चलाये तो उस गोली से प्रकृत गांधी की मृत्यु नहीं होगी। आ
मणकारी की दृष्टि में जो पापिष्ठ प्रतीत हुआ है वही गोली से मारा जायग

●

मेरी तरह और भी हजारों मनुष्य मृत्यु का वरण करें, किन्तु स
का किसी प्रकार भी विनाश न हो।

—म० गां

गांधीजी का आर्थिक आदर्श

प्रो० निर्मल कुमार वसु

महात्मा गांधी का अर्थनीतिक आदर्श और उस आदर्श तक पहुँचने के लिये उन्होंने जिस मार्ग का निर्देश किया था उसे आज मैं आप लोगों के सामने उपस्थित करने की चेष्टा करूँगा। गांधी जी ने कभी विषय की क्रम-पद्धति की रचना करने की चेष्टा नहीं की—सारा जीवन उन्होंने कार्य्य किया। जब उनके विचार की परिणति जिस रूप में हुई उन्होंने अपने वार्त्तालाप में या अपने पत्र के छोटे लेखों में उसे व्यक्त किया। हम लोग उनके विचारों को समझने के लिये उनके लेखों का संग्रह कर के किसी प्रकार एक क्रमपद्धति की रचना कर लेते हैं। किन्तु इस प्रकार की रचना जब हम करने बैठते हैं तो हमें मालूम होता है कि हमारी यह चेष्टा व्यर्थ हो जाती है। इसका कारण यह है कि गांधी जी की कर्मधारा के साथ-साथ उनकी चिन्ता भी परिणति लाभ करती गयी है—वह स्वयं भी इस बात को जानते थे और स्वीकार भी करते थे जिन लोगों को उनके लेखों में असंगति मालूम दिखायी पड़ती थी उनसे उन्होंने कहा था—मेरे अन्तिम लेखों को पढ़िये और बाकी सब को फाड़ डालिये। उन्होंने लिखा है मेरी मृत्यु के बाद मेरे समस्त लेख जला डाले जायें, नहीं तो उनके आधार पर कोई ऐसी बात गढ़ ली जायगी जिस की व्याख्या सुनते-सुनते संसार ऊब जा सकता है। हम लोगों ने उनकी इन सब बातों को भक्ति-भाव से सुना है, किन्तु उनके लेखों को नष्ट कर देने का साहस सचमुच हम में नहीं है। गांधी जी के लेखों में जो अर्थनीतिक आदर्श प्रकट हुए हैं, उन्हीं के कुछ सूत्रों को एकत्र करके यहाँ पाठकों के सामने उपस्थित किया जाता है। जो लोग गांधी जी के लेखों में असंगति बतलाते हैं उन्ह याद रखना चाहिये कि उन लेखों में मौलिक संगति के प्रमाण भी मिल सकते हैं। एक प्रधान असंगति की बात यह कही जाती है कि एक ओर तो गांधी जी यह कहा करते थे कि वंचित मनुष्यों के लिये संग्राम करना होगा और दूसरी ओर उनका यह भी कहना था कि श्रेणी-संग्राम में उनका विश्वास नहीं। गांधीजी के लेखों में यह जो असंगति दिखायी पड़ रह रही है। उसकी मीमांसा मेरे विचार से किस रूप में हो सकती है यही मैं आप लोगों के सामने रखना चाहता हूँ।

वह मीमांसा इस रूप में है कि हिंसा के अस्त्रों का प्रयोग करके युद्ध करना ही गांधीजी की दृष्टि में श्रेणी संग्राम था। धनी व्यक्ति के धन सम्पत्ति एकत्र करके

एक स्थान पर रखने के फलस्वरूप यदि समाज का अकल्याण होता ह तो धनी व्यक्ति की उस क्षमता को दूर करने के लिये जन समाज यदि उससे कहता है भाई तुममें वहुत कुछ विद्या है, बल है जिसकी वदौलत तुमने बहुत कुछ धन संग्रह किया है— हमने तुम्हारे साथ सहयोग किया है—हमने यह समझ लिया है कि एक स्थान पर धन संग्रहीत होना समाज के लिये अकल्याणकर है। हम इस सामाजिक व्यवस्था को मिटा डालेंगे तुम्हारी हत्या करके नहीं, पुरानी समाज-व्यवस्था को असहयोग द्वारा पंगु वनाकर। इस प्रकारके अहिंसक उपाय को गांधीजी न्याय्य समझते थे, किन्तु इसे श्रेणी-संग्राम के अन्तर्गत नहीं समझते थे। रक्तपात करने की इच्छा उनकी कभी नहीं थी—किन्तु अन्याय का प्रतिरोध करने में प्रतिरोध करनेवाले के रक्तपात में वह विश्वास करते थे। वह कहा करते थे कि जो जाति मरना जानती है उसे ही जीवित रहने का अधिकार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीजी के अहिंसा मार्ग में शोषित मनुष्य धनी व्यक्ति से कहेगा—तुम्हारी शोषणवृत्ति अब नहीं चल सकती, आत्मशक्ति द्वारा हम उसका प्रतिरोध करेंगे। इससे भी अच्छी समाज व्यवस्था है हमारे साथ सहयोग करना। उस समाज-व्यवस्था में तुम भी सहयोग प्रदान करो। इस प्रकार केवल आवेदन द्वारा नहीं, बल्कि असहयोग के साथ-साथ मृत्युञ्जयी वीर्य्य के द्वारा शोषित मनुष्य धनी व्यक्ति को भ्रान्त पथ स सुपथ पर ले आयेगा। कारण सब मनुष्यों के कल्याण के लिये कुछ करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। गांधी के मतानुसार शोषण-वृत्ति को भंग करना होगा—शासन द्वारा नहीं, अहिंसात्मक असहयोग द्वारा, रचनात्मक कार्य्य द्वारा। और इस नीति को भी सहयोगी वनाना होगा। ऐसा करने में यदि रक्तपात होगा तो वह केवल सत्याग्रहियों का रक्तपात रहेगा, प्रतिपक्षी का नहीं।

गांधीजी दृढ़तापूर्वक यह कहा करते थे कि शासन द्वारा मनुष्य को सुपथ पर नहीं लाया जा सकता। सत्याग्रही के वीर्य्य और प्रेम के आघात को शक्ति द्वारा प्रतिपक्ष के सुप्त मनुष्यत्व को जाग्रत करना होगा। यही उनकी आजीवन चेष्टा रही। जो लोग युद्ध में विश्वासी होते हैं वे भी प्रतिपक्ष का हृदय परिवर्त्तन करना चाहते हैं, किन्तु वह परिवर्त्तन भयके आघात से होता है—इससे प्रतिपक्ष का मनुष्यत्व अपमानित होता है, सम्यक रूप में वह स्फुर्त नहीं होता। सत्याग्रह के द्वारा अन्याय को रोका जा सकता है, शोषण वृत्ति को स्तब्ध किया जा सकता है प्रेम के पारस प्रस्तर के स्पर्श से प्रतिपक्ष के सुप्त मनुष्यत्व को जाग्रत करके।

गांधी जी आजीवन इस बात की चेष्टा करते रहे कि मानव समाज की सारी

प्रवर्त्तन किया जाय। केवल युद्ध बंद करो यह कहने से ही युद्ध बंद नही हो सकता सामाजिक समस्याओं का समाधान हुए विना युद्ध बंद कर देने पर भी कुछ नहीं हो सकता। युद्ध छोड़ कर किसी अन्य मार्ग द्वारा भारतवर्ष को स्वाधीनता प्राप्त करने का उपाय वह खोज रहे थे। संपूर्ण रूप से गांधी जी का अनुसरण नहीं कर सकने के कारण हम उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर अपनी शक्ति के अनुसार चलते रहे। और जब चलने में समर्थ नहीं हो सके तब हिंसामार्ग का अवलम्बन किया। उन्होंने इसके लिए हमें क्षमा कर दी। किन्तु उन्होंने हमलोगों को छोड़ा नहीं। जिस अंश तक हम अहिंसा का अभ्यास कर सके, उसी अंश तक उन्होंने हम से कार्य्य कराया। संपूर्ण अहिंसा के मार्ग पर चल कर हम वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकें, इस ओर उनका लक्ष्य था। १९४७ के १५ वीं अगस्त के एक दिन पहले ब्रिटिश ब्रोडकास्टिंग कंपनी के एक सज्जन गांधी जी के पास आकर बोले आज भारतवर्ष स्वाधीनता के द्वार देश पर आ पहुँचा है। आप सारे संसार के लिये अपना कोई संदेश दीजिए। गांधी जी ने कहा मुझे कुछ भी कहना नहीं है। मैं अपने हृदय में आनन्द का अनुभव नहीं कर रहा हूँ। जिस मुक्ति का स्वप्न मैं देखता आ रहा हूँ वह मुक्ति अभी नहीं मिली है। जितनी मिली है वह एक आवश्यक वस्तु प्र प्त होने पर भी हमारा लक्ष्य अभी दूर है। जब तक मनुष्य की आर्थिक एवं सामाजिक मुक्ति नहीं होती तब तक हमारा मन नहीं हो सकता। आपलोग जानते है गांधी जी के अन्तिम लेख में इसबात का जिक्र सुखी किया गया था कि राजनैतिक स्वाधीनता मिली है किन्तु आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्वाधीनता अब भी बाकी है। इसके लिय ही उन्होंने प्राणदान किये। आर्थिक दिशा में उनका मोलिक प्रश्न क्या था, किस रूप में वह भावी समाज-व्यवस्था की रचना करना चाहते थे इसे ही हम स्पष्ट करना चाहते हैं। उनका कहना था यह सब अहिंसा के आधार पर प्रतिष्ठित होगा। इस विषय में उनकी मूलनीति को स्पष्ट करने के लिये एक बार उन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहा था उसी का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है:—

प्रश्न—प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हिंसा का आश्रय लिये विना क्या धन-संचय संभव हो सकता है ?

उत्तर—व्यक्ति विशेष हिंसा या शोपण का आश्रय लिये विना धन-संचय नहीं कर सकता। किन्तु भावी समाज में मूलधन का प्रयोजन होगा और इसके लिये धन-संचय राष्ट्र करेगा व्यक्ति नहीं। गांधी जी जिस शोपण हीन अवस्था की कल्पना करते थे, वहाँ तक पहुँचने के लिये दो मार्ग हैं। लेनिन ने लिखा है, समाज में यदि परिवर्त्तन करना है तो समाज की केन्द्रशक्ति द्वारा राष्ट्र में परिवर्तन करना होगा।

गांधी जी का कथन था राष्ट्र को जो लोग परिचालित करेंगे उन्हें सुपथ पर स्थिर

रखने की शक्ति यदि जाग्रत जन समूह में नहीं होगी तो स्थायी कल्याण नहीं हो सकता। कतिपय विश्वस्त व्यक्तियों पर राष्ट्र परिचालन का भार छोड़ कर, यदि हम निश्चिन्त हो जायँगे तो दुःख अनिवार्य्य है। मार्क्सवादी विप्लव की मौलिक वात यह है कि कल कारखानों में काम करनेवाले सर्व हारा या उनका प्रतिनिधि एक सचेतन दल विप्लव का नेतृत्व करेगा। गांधी जी ने इस बात को मान लिया था। किन्तु उनका कहना था—इसके साथ एक और वस्तु की आवश्यकता है।

हमारे देश की जनता बहुत दिनों से तामसिकता में मग्न रही है। अन्याय को रोकने का कोई साधन इस देश में नहीं है हमारे देश की जनता सहज ही निद्रा-मग्न हो जाती है। उसे जाग्रत करना होगा। समाज विप्लव की व्यवस्था करनी होगी, किन्तु जन समूह यदि बीच-बीच में जगकर फिर सो जाय तो राष्ट्र कभी भी स्थिर रूप में उसका स्वार्थ संरक्षण नहीं कर सकता। इसलिये वह विप्लव के अन्य मार्ग का निर्देश कर गये हैं; अपने जीवन में भारत के जन साधारण को उसी मार्ग पर ले चलने की चेष्टा की। अर्थ नीतिक विप्लव की चेष्टा में भी उन्होंने यही किया है। इस व्रत में गठन मूलक कर्म ही उनका प्रधान सहाय था।

चर्खा के नाम मात्र से हमारे मन में विद्रोह की भावना उत्पन्न हो जाती है, किन्तु गांधी जी चर्खा को दूसरे रूप में देखा करते थे। चर्खा का अवलम्बन करके उन्होंने एक नूतन समाज-व्यवस्था के गठन की चेष्टा की थी। गाँवों में जिन्हें फुरसत रहती है वे चर्खा चला कर कुछ अर्जन कर सकते हैं। इस उपाय से कपड़े का अभाव जो दूर किया जा सकता है। आज समाज में मनुष्य-मनुष्य के बीच बन्धन छिन्न हो गया है।

पूंजीवाद के कारण समाज का शरीर विध्वस्त हो गया है। गाँव में मनुष्य के साथ मनुष्य का मेल नहीं रह गया है। सब कुछ रुपये के द्वारा हो रहा है। गांधी जी इसके स्थान में रचनात्मक कार्य्य की सहायता से मनुष्य-मनुष्य के बीच नूतन बन्धन और नूतन सहयोग की सृष्टि करना चाहते थे। यही उनका प्रधान लक्ष्य था।

गांधीजीने भारतवासियों को सत्याग्रह-संग्राम में आह्वान किया था। किन्तु सारा देश इस संग्राम में योग-दान नहीं कर सका। चालीस करोड़ मनुष्यों में अधिक से अधिक एक करोड़ ने सत्याग्रह में भाग लिया—अंगरेज परास्त हुए। बाकी लोग आखिर अपनी चेष्टा द्वारा नूतन समाज का नमूना तैयार करेंगे। समष्टिगत भाव से समाज के कल्याण के लिये काम करने का अभ्यास करेगें। हिटलर को जब भोट की जरूरत हुई तो उसे सैकड़े ९० भोट मिले; कारण वहाँ अन्न की दासता थी। अन्न की दासता शिथिल होने पर ही जन साधारण में शक्तिसंचय होगा और प्रयोजन होने पर वे राष्ट्रपरिचालकों के विरुद्ध सत्याग्रह करके भी उन्हें अपने पथ पर स्थिर रखेंगे। इसी कारण से गांधीजी विकेन्द्रीयकरण में विश्वासी थे।

किन्तु विकेन्द्रीकरण के फल स्वरूप आर्थिक दासत्व मिटने पर भी जीवन का मानदण्ड निम्नस्तर पर चला आयेगा साधारण जीविका निर्वाह के लिये भी आवश्यक शक्ति की वर्बादी करनी होगी। यहाँ गाँधीजी केन्द्रीकरण में विश्वास करते थे। किन्तु यह केन्द्रीयकरण स्वेच्छाधीन रहना आवश्यक है। स्वेच्छापूर्वक विभिन्न देशों के मनुष्यों के सामूहिक कल्याण के लिये यदि सहयोग किया जाय तो इससे अच्छा और कुछ नहीं हो सकता। आज भी संसार में वहुत कुछ केन्द्रीकरण है, किन्तु यह दुर्बल और सवल का सहयोग-है अनेक क्षेत्रों में यह भय या लोभ के ऊपर प्रतिष्ठित है। इस कलुषित मूल के ऊपर मनुष्य का मनुष्यत्व स्वस्थ रूप में विकसित नहीं हो सकता। विकेन्द्रीकरण को आधार वनाने पर स्वेच्छाधीन केन्द्रीकरण के दोष का निदान नहीं हो सकता, कारण आवश्यकता वोध करने पर उस केन्द्रीकरण का परित्याग भी किया जा सकता है। इस रूप में गांधी जी आर्थिक जगत् में एक नूतन मार्ग की उद्भावना करके मनुष्य के मनुष्यत्व को स्वाधीनता के अंदर से किस प्रकार पूर्ण विकास का सुयोग दिया जा सकता है, इसकी शिक्षा हम को दे गय हैं। इस शिक्षा को हम कहाँ तक ग्रहण कर सकेंगे यह नहीं कहा जा सकता किन्तु—स्वल्प-मप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्।

०

मौत किसी भी समय आवे, तो भी वह कल्याणकारी है। लेकिन जो अपने धर्म यानी सत्यके लिये मरता है; उस वीर पुरुषका वह दुगुना कल्याण करती है। मौत कोई राक्षस नहीं; वह सबसे सच्ची दोस्त है। वह हमें दुःख और यातनासे छुटकारा दिलाती है। वह हममें रही हुई आसुरी सम्पत्तिके सामने हमारी मदद करती है। वह हमें नित नया मौका और नई नई आशा देती है। मीठी नींदकी तरह वह हमारी थकावट दूर करती है। फिर भी कोई दोस्त मर जाता है, तो उसके लिए शोक मनानेका रिवाज है। लेकिन जब कोई अपने धर्म या सिद्धान्तके लिये अपने प्राणोंकी बलि देता है तब उसके बारेमें शोक मनाना बुरी बात है।

—महात्मा गांधी

जीवन और मरण एक ही चीज़के दो रूप हैं, एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। दरअसल मुझे दुःख और मौत, सुख और जीवनसे ज्यादा समृद्ध जान पड़ते हैं। दुःख और वेदनाके बिना जिन्दगीमें क्या सार है?......रामायणमें सीता और राम के दुःख, वेदना और तपके सिवा दूसरा क्या है?...... मैं चाहता हूं कि आप लोग जीवनके बजाय मौत और दुःखकी ज्यादा कीमत आंके और उसे अपने मनका मैल धोनेवाली एक शक्ति समझें।

—महात्मा गांधी

गांधी जी की समाजनीति

श्री केशवचन्द्र गुप्त

कुछ दिन हुए मैं लंका द्वीप का परिभ्रमण कर रहा था। राजधानी कोलम्बो के समीप केलानी गंगा के किनारे केलानीया तीर्थ है। केलानी और केलानीया अवश्य ही हमारे कल्याणी और कल्याणीय शब्द के सिंहली अपभ्रंश हैं। लंका के बौद्धों के लिये कल्याणी गंगा का स्थान बड़े गौरव का है, क्योंकि इसकी पवित्रता का मूल कारण यह है कि भगवान् बुद्ध ने लंका-भ्रमण के समय कल्याणीय तीर्थ-स्थान की केलानी गंगा में स्नान किया था।

भारतीय साहित्यिक के नाते उस देश के पण्डितों ने कुटुम्ब की तरह आदर सम्मान करके मुझे परितुष्ट किया—अवश्य ही प्रतिनिधि के रूप में। कारण यह है कि भारत और लंका के बीच की बहुत दिनों की सहृदयता और मैत्री को दोनों ही पक्ष अक्षुण्ण रखने को सचेष्ट हैं। सुपण्डित डा० मलल शेखर और बंगाली अध्यापक श्री हेमचन्द्र रायने पहले ही कल्याणी गंगा के तीर पर मुझे ले जाकर बड़े गर्व और श्रद्धा के साथ उस पुण्यसलिला को दिखलाकर कहा था—इसी स्थान पर भगवान् बुद्ध ने स्नान किया था और यहीं महात्मा गांधी का भस्मावशेष निमज्जित हुआ है। बहुत-से नरनारी वहाँ स्नान कर रहे थे। हम लोग जब मंदिर में आये तब प्रधान थेराने मेरे श्रद्धेय मित्रों से जो पहला प्रश्न किया—वह था इन्हें महात्मा गांधी के भस्मावशेष विसर्जन का पुण्यस्थान दिखला दिया तो?

केवल लंका ही क्यों? इधर कई महीनों से जो भी भारतीय विदेशियों के सम्पर्क में आये हैं उन्हें जिस प्रथम और प्रधान प्रसंगमें योग देना पड़ा है वह गांधी के महाप्रयाणजनित व्यथा के समाचार से सम्बन्ध रखता है। इधर दो महीनों से समाचारपत्रों में पृथ्वी के सभी देशों के राजनीतिक नेताओं की शोकवाणी प्रचारित हुई हैं। इन की आन्तरिकता के विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। धनी, निर्धन, पण्डित-विज्ञ सभी लोगों के साथ की बातचीत में जो आन्तरिक बात सुनी जाती है उसका सिद्धान्त सत्य ही रहता है। इसी पहलू से विचार करने पर यह बात निर्विवाद है कि महात्माजी का महाप्रयाण वर्त्तमान युग के महागुरु-निधन का समाचार है। क्यों?

पुण्यभूमि भारतवर्ष में युग युगान्तर में अनेक महात्मा, महापुरुष और महामानव-का अवतरण हुआ है। भावराज्य एवं कर्म-क्षेत्र में उनके प्रचुर दान विद्यमान हैं।

महापुरुषों के ऐतिह्य से भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास परिपूर्ण है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक युगावतार का आविर्भाव तब होता है जब कि धर्म की ग्लानि होती है एवं अधर्म का आविर्भाव होता है। अवतरणका उद्देश्य ही धर्म-संस्थापन है। धर्म जातीय आदर्श एवं संस्कृतिसम्मत जीवन का यात्रापथ है। किसी जातीय इतिहास की आलोचना करने के लिये उसके जातीय जीवन के ऊपर प्रत्येक महापुरुष के प्रभाव के परिमाण पर विचार कर लेना होगा। सागर के किनारे एक तरंग के बाद दूसरी तरंग जिस तरह रत्न बिछा देती है, कुछ उसी तरह महापुरुषों के अवदान भी काम करते हैं। एक नवीन भावधारा से जातीय जीवन को सम्पन्न बनाते हैं तो दूसरे महात्मा कर्मकी लहर से अवसाद-ग्रस्त मानव समाज का संचारित करते हैं। गांधीजी का माहात्म्य सर्वसम्मत है। इस महात्म्य का अर्जन उन्होंने किन गुणों के द्वारा किया ?

एक शब्द में कहा जा सकता है कि गांधीजी का विशेषत्व विश्वप्रेम था। वह ज्ञानवान् थे और थे कर्मवीर। वह अक्लान्त कर्मी और शुद्ध ज्ञानी थे। उनकी कर्मप्रेरणा हमारी अनुप्रेरणा का उत्स है—हमारे समष्टि एवं व्यष्टि जीवन की विभिन्न प्रचेष्टाओं के लिये। किन्तु गान्धीजी के कृतकर्मों का निरा अनुसरण करने से कोई सफल काम नहीं हो सकता। इस क्षेत्र में भी हमारी प्राचीन रीति-नीति अनु-करणीय हैं—'बिना प्रेम से ना मिले नन्दलाला'। केवल कौपीन धारण करना, चरखे पर सूत कातना, अनशन, प्रायोवेशन और रामधुन ही गांधीवाद नहीं है। यहाँ-तक कि विद्वेष-विष-विकार-जीर्ण त्याग भी गांधीवाद नहीं है। एक श्रेणी के प्रति प्रेम यदि विपक्ष श्रेणी के प्रति विद्वेष में परिणत हो जाय तो वह प्रेम भी कलुषित प्रेम है। शुद्ध मनकी सावलील अहिंसा ने मोहनदास करमचन्द गांधी को 'महात्मा' बना दिया। उनके माहात्म्य का यही विशेषत्व है।

मानव जगत के, विशेषतः भारतवर्ष के, सांस्कृतिक इतिहास की आलोचना यह साफ बतलाती है कि मनुष्य के प्रति प्रेम के बन्धन में समाज को बाँधने की नीति अभ्रान्त है। आर्यावर्त्त ने उदात्त स्वर में विश्व को सुनाया है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। श्रीकृष्णने कहा है—जो मुझे सर्वत्र और सर्वभूतों में देखता है, उसका विनाश नहीं होता। बुद्देव की अहिंसा-नीति ही भारतवर्ष की शुद्ध संस्कृति वहन करती है। एक एशिया ने ही सारे भूमण्डल को सभ्यता के उच्च स्तर पर उठाया था। हमारे साधु, संत, तीर्थंकर, अवतार, महात्मा, महापुरुष सबों ने मानव जाति की ही नहीं बल्कि समस्त भूत की एकता की वाणी से संसार को विमोहित किया है। महाप्रभु चैतन्य ने प्रेम की बाढ़ में ब्राह्मण चाण्डाल सभीको पवित्र माता-भागीरथी-स्नान का पुण्यदान दिया। सिद्ध पुरुष रामप्रसाद ने गाया है—

'मां विराजेन सर्व घटे।'

एक शब्द में—जीवदया और विश्वप्रेम भारत की समस्त संस्कृतियों के सूत्र हैं। इसी प्रेमसूत्र में ग्रथित विभिन्न ज्ञानरूपी मणियों ने आज भी भारतवर्ष को सभ्य जगत में शीर्ष स्थान पर बैठाया है। सभ्य जगत मैं उसे नहीं कह सकता जहाँ मानव-समुदाय पशुबल की स्पर्द्धा के मोह में नर-शोणित—स्रोतस्वती के किनारे साम्राज्य-प्रतिष्ठा करके पार्थिव-रत्न-मरीचिका के पीछे दौड़ता है। सभी अंगरेज इतिहासज्ञ इस बात को मानते हैं कि रोमन सभ्यता वर्बरता के सिंहासन पर प्रतिष्ठित थी। मनुष्य का सच्चा जगत—भाव और धारणा का जगत है। उसका सच्चा राज्य है भावराज्य। उसकी स्वराज्यसिद्धि बहुधा विक्षिप्त, परस्पर विरोधी और निरर्थक भावास्वादन के नियन्त्रण और निवृत्ति तक सीमित रहती है। इसी दृष्टिकोण से आर्य जाति का दान पृथ्वी के लिये श्रेष्ठ अवदान है।

मैं कह रहा था कि प्रेममूलक अहिंसा-नीति इस देशके लिये नई नीति नहीं है। किन्तु हमारी विराट जड़ता एवं अज्ञता, विदेशी शासन और शोषण के फलस्वरूप बनी रही। नीति केवल पोथी पत्रा तक निबद्ध थी। 'पुस्तकस्थातु या विद्या पर-हस्तगते धनम्।' इसी परहस्तगत धन को आर्य जाति में, आर्यजाति ही क्यों, समग्र मनुष्य जाति की संतान-संतति में जिसने बाँट दिया वह धन्य है—वरेण्य है। इसीलिये इस देश में प्रकृत गुरु के लिये इतनी श्रद्धा है। गांधीजी ने इसी प्रेमधन के दायभाग को बाँटने के सदुद्देश्य से जीवनयज्ञ में अपने महाप्राण की आहुति दे दी—इसीलिये वह महात्मा है।

प्रचलित नीति के अनुसार कुछ जातियाँ यहाँ तक कि कुछ व्यक्ति भी जीवन के प्रगतिशील पथ के यात्री रहे हैं। नीतिग्रन्थगत विद्या यक्ष का धन है। वह पात्रों में भरी सुधा की तरह केवल विद्यमान रहती है। व्यवहार-जीवन में यदि वह अनुश्रुत न हो तो व्यष्टि और समष्टि जीवन पंकिल हो जाय। भारतवर्ष की दुःखदुर्गति के मूल कारण को पहचाना था—महात्मा गांधी ने। इस कारण का एक शब्द में वर्णन किया जा सकता है प्रेम का अभाव और हिंसा की दुर्नीति। राजनीतिक क्षेत्र में ही महात्मा गान्धी के जो श्रेष्ठ दान हैं उन्हीं तक हमारी दृष्टि प्रधानतः निबद्ध रहती है। सचमुच स्वाधीनता के विना जीवन मृतवत् है। जिस महापुरुष ने स्वाधीनता-संग्राम में निरुपद्रव अहिंसा की नीति से एक पराधीन जाति को स्वर्ग पथ का संधान दिया है उसका देश धन्य है और धन्य हैं उस देश में उसका नेतृत्व। किन्तु हम लोग यह समझते हैं कि हमारी सामाजिक दुर्नीति के विसर्जन की व्यवस्था नहीं करने से राष्ट्रीय स्वाधीनता की आशा दुराशा में परिणत हो जाती।

नीतिवादियों ने केवल नीतिसूत्रों की ओर जाति का ध्यान आकर्षित किया। राजनीति-क्षेत्र में नेताओं ने केवल विदेशी शासन के घोर अनिष्टों के प्रति देश का

ध्यान निबद्ध रखा था। किन्तु समाज और राजनीति दोनों परस्पर एक ही सुर में बँधे हैं; वाणी एवं कर्म का समन्वय ही उन्नति का एकमात्र उपाय हो सकता है इस सार सत्य की उपलब्धि एकमात्र महात्मा गान्धी ने ही की थी।

केवल वचन या नीति-व्याख्या द्वारा नहीं प्रत्युत् वचन और कर्म द्वारा समाज-सुधार को मूल आयुध मानकर राजनीतिक क्षेत्र में स्वाधीनता अर्जन करने के लिये गान्धी जी ने चेष्टा की थी। जिस देश में कर्मयोग की शिक्षा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने दी था उस देश के ही लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य बन गये थे। जिस देश में भगवान् रामचन्द्र ने क्षात्रधर्म के शिखर से नारी-उद्धार-व्रत का क्रिया के रूप में प्रमाण दिया था उसी देश में मातृ जाति का अपमान महामारी व्याधि की तरह सर्वत्र प्रतीयमान था। भगवान् बुद्ध का देश हिंसा में उन्मत्त था। और जहाँ अन्यत्र अवर्णनीय गहन में गंभीरध्वनि से वैदिक ऋषि ने यह प्रचार किया था कि सभी नर-देह परब्रह्म का आधार है वहाँ मनुष्य मनुष्य के स्पर्श को पाप समझने लगा था। जाति-भेद की हिंसा, प्रादेशिकता से विपदग्ध अन्तर, आर्थिक और सामाजिक निकृष्ट स्पर्द्धा इन सबने मनुष्य को मनुष्य से पृथक् कर दिया था। महात्मा गान्धी ने जान लिया था कि हमारे पापों का मूल इसी अप्रेमिक भिन्नता में है। इसीलिये उन्होंने राजनीति और समाजनीति को अलग-अलग करके नहीं देखा। उन्होंने जाना कि परस्पर की श्रद्धा से मनुष्य संभ्रान्त बन जाता है। नर-नारी के प्रेम का सूत्र इसी दृष्टि-भंगी में है। अतएव समाज की सेवा में देश की सेवा है और प्रेम की सेवा ही देवसेवा है। भंगी के घर और ब्राह्मण के घर में गान्धी जी ने कोई पार्थक्य नहीं देखा। धनी के विलास-प्रासाद में और निरन्नों की जीर्ण कुटी में गान्धी जी एक समान सुखपूर्वक वास कर सकते थे।

आज वह स्वर्ग में हैं। किन्तु उनकी मुक्त आत्मा अपनी मुक्ति के अनाविल आनन्दभोग में आत्मविस्मृत है यह बात मैं सोच भी नहीं सकता। उन्होंने अपने मोक्ष को अलग हटा दिया था हमारे हित के लिये। आज हम विभिन्न उपचारों से गान्धी-पूजा में व्यापृत हैं। किन्तु मैंने विश्लेषण करके जान लिया है कि गान्धीनीति के मूल में है प्रेम। उस प्रेम को विकसित करना होगा अपने देश के सब लोगों के प्रति, आन्तरिक श्रद्धा के साथ कार्य द्वारा केवल वचन या नीति द्वारा नहीं। सामाजिक भिन्नता, द्वेष, हिंसा, या मत्सर की आवर्जना यदि हमारे चित्त को मलिन करे तो गान्धीनीति का अनुसरण करने की हमारी आशा दुराशा में परिणत हो जायगी। हम लोगों की सारी बातें पाखण्डी व्यक्ति की भंडता में परिणत हो जायगी। गान्धीजी

कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि अपने प्रेम-हीन क्षुद्र सीमाओं को एक-एक कर मिटा डालें और सामाजिक प्रेम के स्रोत को सारे समाज में प्रवाहित करदें। इससे गान्धीजी की मुक्त विशुद्ध आत्मा प्रसन्न होगी यदि हम साम्य और मैत्री की नीति को कार्य्य रूप में परिणत कर सकें—और निश्छल भाव से कह सकें—

"एस हे आर्य्य, एस अनार्य्य, हिन्दु मुसलमान" और अभिमानी ब्राह्मण को कह सकें—

"एस ब्राह्मण शुचि करि मन धरहाथ सबाकर"

और निर्यातित को कह सकें—

एस हे पतित होक अपनीत सब अपमान भाव

तभी हमारा गान्धी तर्पण सफल होगा।

•

मैं ने प्रगति की है, यह भावना मुझे आशासे भर देती है। मगर आशा पूरी होने से पहले मेरा देह छूट जाय, तो मैं यह नहीं सोचूंगा कि मैं असफल हो गया हूँ। क्योंकि मैं पुनर्जन्मको उतनी ही हद तक मानता हूं, जितनी हद तक अपने मौजूदा शरीरके अस्तित्वको मानता हूं। इसलिये मैं जानता हूं कि थोड़ी कोशिश भी बेकार नहीं जाती।

मैं मानता हूं कि आत्मा अमर है। इसके लिये मैं आपको समुद्रका उदाहरण देता हूं। समुद्र पानीकी बूंदोंसे बना है; हरएक बूंद अलग-अलग होती है, फिर भी वह पूरे समुद्रका हिस्सा है। जिस तरह समुद्र 'एक और अनेक' दोनों है; जीवन के इस समुद्रमें हम सब छोटी-छोटी बूंदोंकी तरह हैं। मेरे सिद्धान्तका मतलब यह है कि मुझे जीवन के साथ एकरूप हो जाना चाहिये, और चूंकि भगवान घट-घटमें समाया हुआ है, इसलिये मुझे अपने आपमें जीवनकी भव्यताका अनुभव करना चाहिये। जीव मात्रके संघको ही भगवान कहते हैं।

कर्म के अटल सिद्धान्त को मैं मानता हूं। मैं बहुत सी वस्तुओं के लिए प्रयास करता हूं। अधिकाधिक कर्मों का संचय करने के लिए कठिन प्रयास में मेरे जीवन का प्रत्येक क्षण बीतता है, अतः यह कहना गलत है कि मेरे संचित कर्म अच्छे हैं। इसलिए आज मेरा सद्गुल अच्छा ही होता है। संचित तो देखते-देखते खतम हो जायँगे। अतः अपनी प्रार्थना के बल पर भावी शुद्ध कर्मों की रचना करनी है।

—महात्मा गांधी

महात्मा गांधी और हिन्दी

श्री छविनाथ पाण्डेय

हिन्दी और हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर महात्मा गांधी के सम्बन्ध में अनेक तरह के प्रचार किये गये। कुछ लोगोंने तो उन्हें हिन्दी का शत्रु तक कह डाला। अखबारों के कालमही नहीं रंगे गये, बल्कि पोथियाँ तक प्रकाशित की गयीं। धर्म और संस्कृति तक की दोहाई दी गयी। जिन लोगों ने हिन्दू-धर्म और संस्कृति का गला घोंटने में कोई बात उठा नहीं रखी वे भी कमर कस कर मैदान में उतर आये और महात्मा गांधी पर कीचड़ उछालने लगे। वातावरण इतना विषाक्त बन गया और हिन्दी हिन्दुस्तानी का मतभेद इतना ज्यादा बढ़ गया कि महात्मा गांधी को बाध्य होकर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की सदस्यता से अलग होना पड़ा। हिन्दी के हिमायतियों ने इस बात पर लेश-मात्र भी ध्यान नहीं दिया कि जो पुरुष हिन्दी का इतना बड़ा हितैषी है, जिसने हिन्दी के उत्थान के लिए भगीरथ प्रयत्न किया, जिसके प्रयाससे हिन्दी का प्रवेश राजनीतिक क्षेत्र में हुआ, वह हिन्दी का अहित कैसे कर सकता है। ऐसी क्या परिस्थिति आ पड़ी है, जिसमे बाध्य होकर इन महापुरुष को हिन्दुस्तानी और उसके बाद हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं के ज्ञानपर जोर देना पड़ रहा है। इस पर विचार करने का कष्ट किसी ने नहीं उठाया। भावुकता ने स्थूलता को दबा दिया और लोग उसी के प्रवाह में बह चले। कुछ लोगोंने ख्याति और प्रसिद्धि का इसे साधन बनाया और दिल्ली जानेवाले पाँचों सवारों में अपना नाम लिखाया।

जो हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध है और इस बात को बिना किसी संकोच के स्वीकार किया ही जायगा कि हिन्दी को जो गौरवमय पद आज प्राप्त हो सका है, उसका श्रेय महात्मा गांधी को है। यह भी कहना अत्युक्ति नहीं समझा जायगा कि साहित्य-सम्मेलन की प्रतिष्ठा भी उसी दिन बढ़ी, जिस दिन इस संस्था में महात्मा गांधी का पदार्पण हुआ।

किसी भी देश का साहित्य उस देश की उथलपुथल से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। उस देश की राजनीतिक तथा सामाजिक क्रान्ति से साहित्य का बना संपर्क होना चाहिये। बिना इस सम्बन्ध के एक दूसरे की अभिवृद्धि नहीं हो सकती। इसके अभाव में न तो साहित्य की अनुकूल प्रगति होगी और न संस्था ही अपना उद्देश्य पूरा कर सकेगी। दोनों अधूरे रहेंगे और अपने-अपने क्षेत्र में पंगु समझे जायेंगे। हमारे

देश की भी उस समय तक कुछ ऐसी ही हालत थी, जव तक महात्मा गांधी इस देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल नहीं हुए थे।

कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हो चुकी थी; लेकिन १९१७ तक कांग्रेस जन-साधारण की संस्था नहीं हो पायी और कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों तक ही वह सीमित रही। इसका एक मात्र कारण यही था कि कांग्रेस से इस देश की भाषा का कोई सम्बन्ध या संपर्क नहीं था। उसके सारे काम-काज अंग्रेजी में होते थे। उसके मंच पर से भाषण भी अंग्रेजी में होते थे। इससे जन-साधारण तब तक कांग्रेस की ओर आकृष्ट नहीं हो सका था। न तो उसे कांग्रेस में रुचि थी और न कोई प्रयोजन था। वह उसे अपनी संस्था मानती भी नहीं थी और शहरों के अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के अतिरिक्त अन्य लोग कांग्रेस का नाम भी नहीं जानते थे। कांग्रेस के प्रतिनिधियों का चुनाव एक तमाशा हुआ करता था। शहरों में दस बीस लोग इकट्ठे हो जाते और कांग्रेस के अधिवेशन के लिए प्रतिनिधि चुन लिया करते थे। 'आप मियां मिट्ठू' की तरह वे जनता के प्रतिनिधि बन जाते थे। इसलिए सरकारी दृष्टि में उनकी कदर भी नहीं थी; क्योंकि सरकार जानती थी कि इस देश में मुश्किल से एक दो फी सदी अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग हैं, जो कांग्रेस को मानते हैं और कांग्रेस में शामिल होनेवाले प्रतिनिधि ज्यादा से ज्यादे इसी एक दो फी सदी का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। काँग्रेस जन-साधारण में प्रवेश नहीं कर सकी है, इसलिए इसका कोई मूल्य नहीं है।

महात्मा गांधीने पहले-पहल इस कमी को महसूस किया। उन्होंने देखा कि जवतक काँग्रेस का काम भारतकी अपनी भाषा हिन्दी में नहीं होगा, तव तक काँग्रेस जन-प्रिय नहीं हो सकेगी और वह इस देश का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। इसी वात को मद्देनजर रखकर सब से पहले उन्होंने कांग्रेस-मंच से हिन्दी में भाषण आरंभ किया। महत्मा जी की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। उस वक़्त तक वे हिन्दी में अच्छी तरह लिख और बोल भी नहीं सकते थे। अंग्रेजी भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। लेकिन हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरवमय पद दिलाने के लिए ही उन्होंने यह दुस्साहस उस वक्त किया था। दुस्साहस शब्द का प्रयोग हमने जान बूझ कर किया है। जिस युग में कांग्रेस के मंच से हिन्दी का नामलेवा भी कोई नहीं था, उस समय उस मंच से हिन्दी में भाषण देने के लिए कटिवद्ध होना दुस्साहस नहीं तो और क्या कहा जायगा? परिणाम क्या हुआ? चारों ओर से आवाज आन लगी : इंगलिश, इंगलिश : अर्थात् अंग्रेजी में वोलिये। लेकिन महात्मा गांधी जी हताश या निराश होनवाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने इसका उत्तर वड़ी दृढ़ता से दिया : मुझे तव तक ठहरना पड़ेगा, जब तक आप लोग हिन्दी सीख न लें।"

और महात्मा जी अपने प्रयास में सफल हुए। लोगों को कांग्रेस में हिन्दी के लिए स्थान देना पड़ा और महात्मा गांधी के प्रयास से भारत की राजनीति में हिन्दी का प्रवेश हुआ।

महात्मा गांधी के इस प्रयास से हिन्दी को कितना वल मिला, उसका कितने वेग से उत्थान हुआ, इसका पता तो राष्ट्रीय आन्दोलनों की प्रगति तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन से चल जाता है। हिन्दी साहित्य के विद्वानों का कहना है कि १९२० के असहयोग-आन्दोलन में हिन्दी साहित्य की जो अभिवृद्धि हुई, वह पिछले ५० वर्षों में नहीं हुई थी और १९३० और १९४२ के आन्दोलनों मे भी हिन्दी साहित्य को वहुत अधिक प्रोत्साहन मिला।

लेकिन कांग्रेस में हिन्दी का प्रवश करा देने से ही काम चलनेवाला नहीं था। इससे भी ज्यादा जरूरी था हिन्दी का उन प्रान्तों में प्रचार, जहां की भाषा हिन्दी नहीं थी। इस दृष्टि से विचार करने पर सवसे कठिन और जटिल समस्या मद्रास प्रान्त की थी। भारत के अन्य सभी प्रान्तों की भाषाओं में हिन्दी का कुछ न कुछ प्रवेश है। सभी प्रान्तों में लोग किसी न किसी तरह हिन्दी को समझ तो लेते हैं, टूटी-फूटी हिन्दी वोल भी लेते हैं, लेकिन मद्रास एक ऐसा प्रान्त था, जहां हिन्दी एकदम विदेशी भाषा समझी जाती थी और न तो वहाँ के लोग हिन्दी वोल सकते थे और न समझ सकते थे। इसलिए जव तक मद्रास में हिन्दी का प्रचार न किया जाय, तव तक हिन्दी को कांग्रेस में पूरी सफलता नहीं मिल सकती थी, वल्कि तव तक हिन्दी को कांग्रेस में प्रस्थापित करना मद्रास वालों के साथ अन्याय करना होता। यह वहुत वड़ा प्रश्न महात्मा गांधी के सामने था।

लेकिन इसका हल महात्मा जी ने सोच लिया। कांग्रेस के मंच ने महात्मा गांधी ने हिन्दी के लिए जो कुछ किया, उसने हिन्दी के उस समय के हिमायतियों को उनकी ओर आकृष्ट किया। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के कर्णधारों ने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के उस साल के अधिवेशन का सभापति महात्माजीको वनाने का निश्चय किया। इस निर्णय के अनुसार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन के वे सभापति वनाये गये। उसी अधिवेशन में उन्होंने मद्रास प्रान्त में हिन्दी प्रचार की योजना वनायी और जिन लोगों ने इस काम में महात्मा जी का हाथ वँटाना चाहा, उन्हें उन्होंने आवश्यक खर्च देकर इन्दौर से ही मद्रास के लिए रवाना किया।

इस तरह मद्रास में हिन्दी-प्रचार का काम आरम्भ हुआ। इस काम के लिए महात्माजी ने धन-संग्रह आरम्भ किया और धीरे-धीरे इस कामको इस तरह वढ़ाया कि मद्रास प्रान्त में प्रचारकों का जाल विछा दिया और मद्रास के वड़े-से-वड़े लोग

हिन्दी सीखने के लिए आतुर दिखाई दिये। कई सालकी वात है। मद्रास हिन्दी प्रचार-सभा के मंत्री श्रा सत्यनारायणम् जी पटना आये थे। उस समय मैं विहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का प्रधान मंत्री था। मद्रास में हिन्दी-प्रचार के वारे में वातचीत होने लगी, इसी सिलसिले में श्री सत्यनारायणम् जी ने मुझसे कहा था :— "हम मद्रास प्रान्त के रहनेवाले महात्मा गांधी के ऋणी हैं, क्योंकि उन्होंने हमें इस योग्य वना दिया है, कि आज हम भारत के किसी प्रान्त में घूम-फिर सकतेहैं और विना किसी दिक्कत के अपनी आवश्यकताएं पूरी कर सकते हैं। लोग मेरी वात समझ लेते हैं और मैं लोगों की वात समझ जाता हूँ, नहीं तो इससे पहले मद्रास एक अंग होते हुए भी भाषाकी दुरूहता के कारण विदेशी वना हुआ था।"

आज तो मद्रास के शहरों में ही नहीं; गाँवों में भी हिन्दी का प्रचार वढ रहा है। हिन्दी की कई परीक्षायें कायम होगयी हैं और प्रतिवर्ष लाखों विद्यार्थी इन परीक्षाओं में शामिल होते हैं और हिन्दी की उपाधि ग्रहण करते हैं। मद्रास प्रचार-सभा की ओर से नियमित रूपसे हिन्दी का एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है, जो क्रम जारी है और जिस तरह वहाँ ठोस काम हो रहा है, उसे देखकर तो यह आशा करना अनुचित नहीं होगा कि कालान्तर में मद्रास प्रान्त में सवसे ज्यादा हिन्दी के पढ़ने-लिखने वाले हो जायँगे।

मद्रास में प्रचार का जो कार्य आरम्भ हुआ, उससे सम्मेलन को स्फूर्ति मिली और उसका प्रचार-विभाग सक्रिय तथा तत्पर होकर काम करने लगा। मद्रास प्रान्तकी ओर से निश्चिन्त होकर सम्मेलन के प्रचार-विभाग ने अन्य अहिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में प्रचार का काम आरम्भ किया। आसाम तथा खासिया हिल्स इसके खास केन्द्र वने। प्रयाग सम्मेलन की देखादेखी विहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने भी अपने प्रान्तके अहिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में प्रचारका कार्य आरंभ किया। साधनों की कमी होते हुए भी प्रान्तीय सम्मेलनने इस दिशामें कुछ काम किया। हिन्दी के इस व्यापक प्रचार का सारा श्रेय महात्मा गांधी को ही है।

इसके वाद राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर हिन्दुस्तानी का प्रश्न सामन आया। विरोधियों के विरोध की परवा न कर महात्मा जी ने इस प्रश्न को भी अपने हाथ में लिया। राष्ट्रभाषा प्रचार-सभा का काम वम्वई और पूना में उन्होंने जोरों से चलाया और अगणित ऐसे उत्तम व्यक्तियों को इस ओर खींचा, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। राष्ट्रभाषा के प्रश्न के चलते महात्मा जी पर कीचड़ उछाले गये, जैसा पीछे लिखा गया है, लेकिन उसकी उन्होंने लेशमात्र भी परवा नहीं की। वे उसी तत्परता के साथ अपने काम में लगे रहे। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की सदस्यता से त्यागपत्र देते हुए महात्मा जी ने टण्डन जी को जो पत्र लिखा था, उसका एक वाक्य उनके सारे

दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है। उन्होंने लिखा था "हिन्दी की अधिकाधिक सेवा करने के लिए ही मैं साहित्य-सम्मेलन से अलग हो रहा हूँ।"

केवल प्रचार के काम में ही नहीं, बल्कि ठोस साहित्य के सृजन में भी महात्मा गांधी के व्यक्तित्वका व्यापक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि भगवान् कृष्णचन्द्र के बाद शायद महात्मा गांधी ही ऐसे व्यक्ति निकलेंगे, जिनके व्यक्तित्व से हिन्दी के कवियों को प्रेरणा मिली हो और इतने अधिक काव्य का सृजन हुआ हो। श्री मैथिलीशरण गुप्त महात्मा गांधी को लेकर ही राष्ट्र कवि बने। माधव शुक्ल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर, सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी को महात्मा गांधी के जीवन और प्रयोग से स्पष्ट प्रेरणा मिली है। जिस समय दिनकर ने कुरुक्षेत्र की रचना की थी और उसकी कुछ पंक्तियाँ पहले-पहल मुझे सुनायी थीं, मैंने पूछा था "—महाभारत के समान वीररस प्रधान घटना में यह निर्वेद तुम ने कहाँ से घुसेड़ दिया।" श्रीदिनकर ने मुस्कुरा कर मुझसे कहा था :—महात्मा गांधी का प्रभाव। मैंने बहुत कोशिश की; लेकिन महात्मा गांधी की अहिंसा के अमिट प्रभाव से मैं अपने को मुक्त नहीं कर सका और 'कुरुक्षेत्र' का अथ निर्वेद से करना पड़ा।"

जिस तरह दिनकर पर गांधीवाद का अमिट प्रभाव पड़ा, उसी तरह सोहनलाल द्विवेदी भी गांधीवाद से ओतप्रोत हैं। उनकी हर पंक्ति में गांधीवाद की छाप है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की कल्पना को गांधीवाद ने घेर लिया है और उससे स्वतंत्र इसका कहीं अस्तित्व नहीं है। माधव शुक्ल तो :—

"यदि इच्छा हो प्रबल यह, भारत का उद्धार हो।
असहयोग पथ को गहो, क्षण में बेड़ा पार हो।

की रट लगाते-लगाते परलोक चले गये। मैथिलीशरण गुप्त की अनेक कविताएं ऐसी कवितायें हैं, जो गांधीवादी विचार-धारा की प्रतिबिम्ब कही जा सकती हैं। माखनलाल जी के जीवन पर गांधी जी के सत्य, अहिंसा का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। उनकी कविताओं में आक्रोशके लिए स्थान नहीं है। अहिंसा उन्हें वैसा करने से मना करती है। वे दमन और उत्पीड़न के कष्टों को प्रियतम के मार्ग की कठिनाइयां समझते हैं।

सियाराम शरण जी पर भी गांधीवादी विचार-धारा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे अपने छायावादी क्षेत्र से खिंचकर गांधीवादी विचार-धारा में आ गये और इनके ही पोषक बन गये। सुमित्रानन्दन पन्त के समान छायावादी कवि भी इस विचारधारा ने अपने को बचा न सके। उनपर भी उसका असर पड़ा और उन्होंने भी उसे अपनाया। इस तरह हम देखते हैं कि महात्मा गांधी के व्यक्तित्व से भारत की राजनैतिक

महत्ता ही नहीं बढ़ी, वल्कि भारत का वहुमुखी कल्याण हुआ। जिस क्षेत्र में हाथ डालकर टटोलिये—गांधीजी का स्पष्ट व्यक्तित्व नजर आवेगा। हिन्दी का तो उनसे वहुत वड़ा उपकार हुआ। हिन्दी भाषाभाषी उनके चिर ऋणी रहेंगे। मातृभाषा के तुच्छ पुजारी के नाते इन शब्दों के साथ मैं भी उस युगपुरुष के चरणों में अपनी श्रद्धान्जलि अर्पित करता हूँ।

•

मैं सत्य की जितनी खोज करता जा रहा हूँ उतना ही मुझे यह महसूस होता है कि इसी में सब आ जाता है! अहिंसा में वह नहीं है; लेकिन उसमें अहिंसा है, ऐसा बहुत बार लगता है। निर्मल अंत:करण को जिस समय जो लगे वही सत्य। उस पर दृढ़ रहने से शुद्ध सत्य मिल जाता है। उसमें कहीं धर्म-संकट की बात भी मुझे तो नहीं दीख पड़ती, किन्तु अहिंसा किसे कहना, इसका निर्णय करते वक्त कई बार मुसीबत आती है। जन्तुनाशक पानी का उपयोग भी हिंसा है। हिंसामय जगत में अहिंसामय होकर रहने की बात है। यह तो दृढ़ रहने से ही हो सकती है। इसलिये मैं तो सत्य में से अहिंसा को सिद्ध कर सकता हूँ, सत्य में से प्रेम मिलता है, सत्य में से मृदुता मिलती है। सत्यवादी सत्याग्रही को बहुत नम्र होना चाहिये। उसका सत्य जितना बढ़े उतना वह नम्र होता जाय। इसका मुझे प्रतिक्षण अनुभव मिल रहा है। मुझे इस वक्त सत्य का जितना ख्याल है, उतना साल भर पहले नहीं था और इस वक्त मेरी कल्पना मुझे जितनी मालूम देती है उतनी साल भर पहले नहीं लगती थी।

'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' इस वाक्य का चमत्कार मुझे दिनों-दिन बढ़ता हुआ नजर आता है। इसलिये हम सदा धीरज रक्खें।

धीरज रखने से हमारे भीतर की कठोरता निकल जावेगी। कठोरता चली जाने से हममें अहिंसा बढ़ेगी। अपनी भूल हमें पहाड़ जितनी बड़ी मालूम देगी और जगत की भूल राई जितनी लगेगी। शरीर की स्थिति अहंकार को लेकर ही संभव है। शरीर का आत्यंतिक नाश ही मोक्ष है। अहंकार का आत्यंतिक नाश जिसमें हुआ है वह तो सत्य की मूर्ति बन जाता है। उसको ब्रह्म कहने में भी हर्ज नहीं; इसी से ईश्वर का सुन्दर नाम तो दासानुदास है।

स्त्री, पुत्र, मित्र, परिग्रह सब कुछ इस सत्य के अधीन होने चाहिएँ। सत्य को खोजते वक्त इन सबका सर्वथा त्याग करने के लिये तत्पर रहे, तभी सत्याग्रही बना जा सकता है। —गांधीजी

युग की प्रतिमा !

श्रीगंगाधर मिश्र, 'शास्त्री'

शिशिर शीत भींगी सन्ध्या ने-
पहनी थी साड़ी वासन्ती
उसकी छवि को देख, लेखनी-
तुरत उठी कवि की रसवन्ती

लगा आँकने कवि सन्ध्या की
रूप-कान्ति को निज वाणी में
स्फूर्ति नवल थी, नवोल्लास था,
उस क्षण जगती के प्राणी में

इतने में कवि के कानों में
धीरे से कुछ कहा पवन ने,
दुहराया रह रह कर जिसको
कवि के ही दिल की धड़कन ने

गिरी लेखनी कवि के कर से,
भग्न हुई नव-भाव-भंगिमा
चीख उठा कवि-फूट गई हा !
सकल सिद्धिदा युग की प्रतिमा !

ग्राम-स्वराज्य और गांधीजी

श्रीप्रभुदयाल विद्यार्थी

हिन्दुस्तान सात लाख गाँवों में बसता है। गाँवों से ही हिन्दुस्तान की मर्यादा बनी है। देहातियों का सुधार सभी चाहते हैं। लेकिन मुझे देखना है वास्तव में हिन्दुस्तान की सेवा कौन करता है। गाँवों के लिए कैसा स्वराज्य होना चाहिए। हिन्दुस्तान को आजादी मिल गई है। मुँहमांगा स्वराज्य मिला है! पूज्य गांधीजी की अहिंसा ने दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया है। अहिंसा ने मुल्क को कैसे आजाद किया है। आज हर इन्सान इस बात को सोचकर हैरत में पड़ जाता है। गांधीजी को जादूगर समझता है। सचमुच वह अहिंसा के पैगम्बर थे। हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों का स्वराज्य कैसा हो? एक दिन प्रातःकाल सन् १९४२ के आरम्भिक सप्ताह में टहलते समय मैंने पूज्य गांधीजी से सेवाग्राम में पूछा—बापूजी, आप गाँवों में किस तरह का स्वराज्य चाहते हैं? क्या आप मुझे विस्तार से इस विषय को समझायेंगे? आप क्यों नहीं 'हरिजन' में ग्राम-स्वराज्य पर अपनी राय प्रकट करते हैं? पूज्य गांधीजी ने हंसकर कहा—"गाँव स्वराज्य के लिये ही तो मैं यहाँ देहात में पड़ा हूँ। मैं पक्का देहाती हूँ। देहातियों की सारी कठिनाइयाँ मैं समझता हूँ। सेवाग्राम में मुझे कितनी मुसीबतें उठानी पड़ती हैं, वह तो तुम जानते ही हो।"

"मेरी ग्राम-स्वराज्य की जो कल्पना है वह तुम यह समझ लो। वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर न रहेगा और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा, वह परस्पर सहयोग से काम करेगा। इस तरह हर एक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत के तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। उसके पास इतनी फाजिल जमीन होनी चाहिए, कि जिसमें पशु चर सकें, और गाँव के बड़ों व बच्चों के लिए मन-बहलाव के साधन और खेल-कूद के मैदान वगैरह का प्रबन्ध हो सके। इसके बाद भी जमीन बची, तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा, जिन्हें बेचकर वह आर्थिक लाभ उठा सके; यों, वह गाँजा, तम्बाकू-अफीम वगैरह की खेती से बचेगा। हर एक गाँव में गाँव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा। वॉटर वर्क्स होंगे—जिससे गाँव के सभी लोगों

को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं या तालावों पर गाँव के सभी लोगों का पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दर्जे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहाँ तक हो सकेगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किए जायँगे। जांत-पांत और क्रमागत अस्पृश्यता के जैसे भेद आज हमारे समाज में पाए जाते हैं, वैसे इस ग्राम-समाज में बिलकुल नहीं रहेंगे। सत्याग्रह और असहयोग के शास्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासनबल होगी। गाँव की रक्षा के लिये ग्राम-सैनिकों का एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाजिमी तौर पर—बारी-बारी से, गाँव के चोकी-पहरे का काम करना होगा। इसके लिए गाँव में ऐसे लोगों का एक रजिस्टर रक्खा जायगा, गाँव का शासन चलाने के लिए हर साल गाँव के पाँच आदमियों की पंचायत चुनी जायगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यतावाले गाँव के बालिग स्त्री-पुरुष को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे, चूंकि इस ग्राम स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दण्ड का कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिये यह पंचायत अपने एक साल के कार्य-काल में स्वयं ही धारा-सभा न्याय-सभा और कार्यकारिणी सभा का सारा काम मिलकर करेगी।

इस ग्राम शासन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर निर्भर रहनेवाला सम्पूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही अपनी इस सरकार का निर्माता होगा। उसकी सरकार और वह दोनों अहिंसा के नियमवश होकर चलेंगे। अपने गाँव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति का मुकाबला कर सकेगा। क्योंकि हरएक देहाती के जीवन का सबसे बड़ा नियम यह होगा कि वह अपनी और अपने गाँव की इज्जत की रक्षा के लिए मर मिटे।"

०

मैं शान्तिप्रिय मनुष्य हूँ। परन्तु सत्य एवं अहिंसा के विरुद्ध जाकर मैं किसी भी कीमत पर शान्ति खरीदना नहीं चाहता। मैं ऐसी शान्ति नहीं चाहता जो जड़ पत्थर में होती है—मृत कब्र में होती है! मैं तो ऐसी शान्ति चाहता हूँ जो मानव के चेतन हृदय में बसी हुई होती है और जो सारे चिंतनशील संसार के तर्क-बाणों के लिये खुली हुई होती है, परन्तु साथ ही सभी तरह की हानि से इसलिये सुरक्षित रहती है; क्योंकि उसपर सर्वशक्तिमान परमात्मा की शक्ति का प्रभाव है। —मो० क० गांधी

०

लोकसेवक-संघ

श्री जे० सी० कुमारप्पा

अखिल भारतीय चर्खा संघ, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, हरिजन-सेवक-संघ और गो सेवा संघ—हमारे ये विभिन्न संघ अब तक अपने-अपने क्षेत्र में कार्य्य करते आ रहे हैं, किन्तु इनके कार्य्य परस्पर विशेष संबद्ध नहीं हैं, और न इन्हों ने सत्य और अहिंसा के आधार पर आधारित गांधी जी के जीवन-दर्शन पर विशेष जोर ही दिया है। इस तरह से काम करने का परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक संघ ने एक ओर तो अपने-अपने कार्य्य में दक्षता प्राप्त की है और दूसरी ओर अपने साथ काम करनेवाले दूसरे संघों के कार्य्यक्रम की ओर बिलकुल ध्यान ही नहीं दिया है। एक संघ के साथ दूसरे संघ के इस पार्थक्य के कारण ही अपने दल से बाहर हमारा प्रभाव बहुत कम रहा है और अपने क्षेत्र के अंदर काम करते हुए भी हम गांधी जी की जीवन-यात्रा-प्रणाली को समुचित रूप में व्यक्त नहीं कर सके हैं।

इन सब संघों के जन्म और विकास के पीछे जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि थी, उसी के कारण इन सब के कार्य्यों की यह अवस्था रही है। किन्तु अब वह समय आ गया है जब कि हम अपने रचनात्मक कार्य्य को एक नया रूप प्रदान करें। हम लोगों ने कुछ हद तक स्वराज प्राप्त कर लिया है और इसलिए सरकार के प्रति हमारा मनोभाव भी उसी रूप में प्रकट होना चाहिए जिस रूप में हम अपना संगठन करें।

प्रतियोगितामूलक अर्थनीति में, सरकार का शासन-विभाग विरोधी पक्ष द्वारा बाधा-प्राप्त और परिचालित होता है। किन्तु सत्य और अहिंसा के आधार पर आधारित अर्थनीति में इस प्रकार का कोई विरोधी पक्ष नहीं हो सकता। हमारी स्थिति ऐसी होनी चाहिए, जिससे सरकार का ध्यान हमारी कार्य्य-प्रणाली की ओर आकृष्ट हो और वह अपनी सरकारी योजनाओं में यथासंभव हमारी लोकसेवा

का अनुकरण करे। इस कार्य्य में सफल होने के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न संघ परस्पर एक हो जायँ। इससे हमारी शक्ति बढ़ेगी और हम सफल रूप में यह दिखा सकेंगे कि सरकार के विभिन्न विभागों में किस ढंग के कार्य्यक्रम का अनुसरण किया जा सकता है। इस लिये यह आवश्यक है कि अब तक हम जिस पुराने ढंग से कार्य्य करते आ रहे हैं उसका परित्याग करके हम अपने को पुनः संगठित करें। इसी उद्देश्य से गांधी जी ने कांग्रेस के विधान के अपने प्रस्तावित मसविदे में उन प्रणालियों का निर्देश किया था जिन पर हम कार्य्य कर सकते हैं। उनका सुझाव यह था कि एक प्रचारक संस्था और वैधानिक यंत्र के रूप में कांग्रेस की अब कोई उपयोगिता नहीं रह गयी है, इसलिये वह अन्य राजनीतिक दलों और साम्प्रदायिक संस्थाओं के साथ अस्वस्थ प्रतियोगिता से अपने को अलग रखे" और सामाजिक, नैतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता के लिये कार्य्य करे। गांधी जी कांग्रेस को एक रचनात्मक कार्य्य करनेवाली संस्था—लोक-सेवा-संघ के रूप में परिवर्तित कर देना चाहते थे जिससे विभिन्न संस्थायें, जो इस समय रचनात्मक कार्य्य कर रही हैं उसके साथ संबद्ध होकर कार्य्य कर सकें और उनकी सेवाओ से वह लाभ उठा सके। यदि इस दिशा मे कांग्रेस अपना कदम बढ़ाये तो हमारे लिये आगे बढ़ कर इस कार्य्य-प्रणाली को वास्तव रूप देने की जरूरत नहीं होगी। किन्तु यदि वह ऐसा नही करे तो हमें अपने वर्त्तमान संगठनों को भंग करके फिर से अपने को संगठित करना पड़ेगा और उनका लोक-सेवक-संघ के रूप में फिर से इस प्रकार गठन करना पड़ेगा, जिस से हमारी एकही संस्था होगी और वह रचनात्मक कार्य्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं का अनुसरण करती हुई गांधी जी की जीवन-यात्रा-प्रणाली को व्यावहारिक रूप में प्रदर्शित कर सकेगी।

कई साल पहले संस्थाओं का फिर से गठन करने का प्रयत्न किया गया था, जब कि समग्र ग्राम-सेवा संघ की सृष्टि हुई थी, किन्तु विभिन्न संघों के साथ इसकी एकसूत्रता न होने के कारण यह प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुआ। अपनी संस्था का गठन हम खण्डित रूप में नहीं कर सकते। अपने संगठन को एक सम्पूर्ण नया रूप देने की आवश्यकता है, जिसके कार्य्य की रूपरेखायें नीचे लिखी तालिका के अनुसार होगी :—

लोक सेवक-सघ (सेवकों को भर्ती करना, संगठन, प्रबन्ध और अर्थ-विभाग)

- स्वास्थ्य
  - आहार विज्ञान
  - शिशु-मंगल
  - स्वास्थ्य और सफाई
- शिक्षा
  - हिन्दुस्तानी तालीमी संघ
  - हिन्दुस्तानी-प्रचार
- अर्थनीति
  - कृषि
    - व्यवसाय-मूलक
    - स्वावलम्बी
      - शाक-सब्जी
      - फल
  - ग्राम-उद्योग
    - खाद्य-प्रक्रिया
    - प्राथमिक आवश्यकतायें चर्खा-संघ
  - विविध उद्देश्य मूलक-समितियाँ
- राजनीति
  - पंचायत
  - प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार
    - मुख्य व्यवसायों पर नियंत्रण
    - राष्ट्रीय सेवा-कार्य्यों पर नियंत्रण
    - प्रचार
- सामाजिक
  - साम्प्रदायिक एकता
  - हरिजन और पिछड़ी हुई जातियाँ
  - मजदूर, किसान और गृहशिल्पी
  - युवक
  - स्त्रियों की अवस्था
- पशुपालन
  - गो-सेवा-संघ
- प्रकाशन
  - नवजीवन ट्रस्ट
    - लोकसेवक
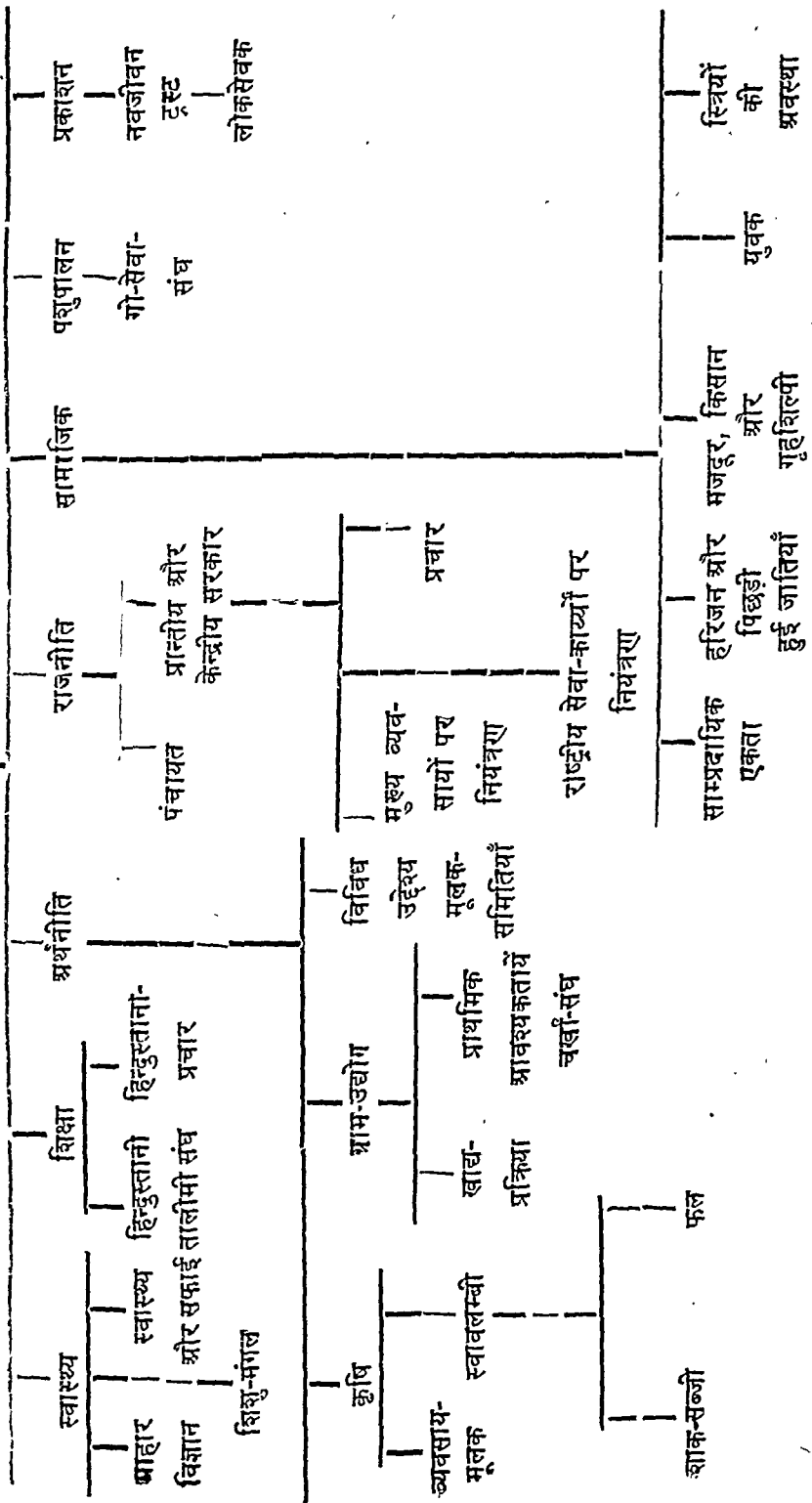
विसर्जन

शरदेन्दु

वन्दन करो,
अर्चन करो,
इस भस्म का पूजन करो
सौ बार अभिनन्दन करो;
यह राष्ट्र का अभिमान है,
यह देश का सम्मान है।

इसका विसर्जन आज है,
इसका निमज्जन आज है,
उस वीर के अवशेष का
अंतिम प्रवाहन आज है।

वह मर गया,
वह जल गया,
कुछ राख बाकी बच रही,
कुछ आग बाकी बच रही।

ओ भानुजा के पुण्य जल!
भागीरथी के पय विमल!
ओ तीर्थो! पावन अमल!
तुम को बुझानी आग यह;
जिस आग ने
साम्राज्य के गढ़ ढा दिये,
जिस आग ने
जलकर स्वयं
दीपक असंख्य जला दिये,—
आगे बढ़ो,
उस आग का,
उस राख का
स्वागत करो।

अपने हृदय के शीत से
कुछ दाह कम उसका करो।

यह राख है,
जो बुझ गयी
लेकिन सदा को जल उठी
पथ का प्रबल आलोक बन।

उसका विसर्जन आज है,
उसका प्रवाहन आज है,
उस वीर के अवशेष का
अंतिम प्रदर्शन आज है।

लो! मानवों की यह चमू
बढ़ती इधर ही आ रही;
क्या वास्तव में देश में
इतने मनुज बसते रहे?
सब के दृगों में अश्रु हैं,
सब के मुखों पर स्वेद है,
सब के स्वरों में एक स्वर
भरता गगन—
ये कर रहे सब कीर्तन।

ओ तीर्थो!
लो द्वार पर
आया तुम्हारे देवता—
मैं भूलता
अवशेष ही आये यहाँ।

उठ कर उन्हें सम्मान दो,
भर-भर कलश,
ले नारियल
स्वागत करो;
कुछ अर्घ्य दो,
कुछ पाद्य दो।

वह एक था।

पर आज कण-कण में वही,
पर आज स्वर-स्वर में वही।
ये हैं त्रिवेणी, नर्मदा,
पुष्कर यहाँ,
डाँडी वहाँ,—
वह एक ही।
सब तीर्थ पर
छा-सा गया।

कुछ शान्त हो।

लो! भस्म का लेकर कलश
नौका चली,
शत फूल बरसाता गगन से
यान भी।
लहरें तरल
उठ-उठ उसे हैं झाँकतीं;
कुछ चूमतीं।
ये घाट कैसे भर रहे
मानो कि सारा देश ही
इन में सिमट कर आगया।
ये आज आये हैं यहाँ
श्रद्धा लिये,
पूजा लिये,
आँसू लिये।
हिचकी लिये,
ये राष्ट्र के उस देवता
को आज अंतिम बार
अंजलि दे रहे!
लहरो! न इतनी व्यग्र हो,
गंगे! न इतनी व्यग्र हो,
यमुने! न इतनी व्यग्र हो,—

ये फूल भी,
यह भस्म भी
यह सब तुम्हारे ही लिए;
कुछ शान्त हो,
क्षण भर रुको।

पावन सरित !
मैं सोचता—
है कौन किसको
आज पावन कर रहा ?
ये राष्ट्र के बापू रहे—
मैं भूलता,
उनकी निशानी पुण्यतम,
औ तुम रहीं
जो युग-युगों से बह रहीं
संसार का कल्मष मिटा।
संयोग कैसा होरहा ?
लो ! शान्त सब।

लाखों प्रकम्पित कण्ठ से
जयकार बापू का हुआ,
जयकार गांधी का हुआ;
गूंजा गगन,
गूँजी अवनि
गूँजा सरित का उर चपल
फिर एक क्षण में
शान्त सब कुछ होगया
बापू गये
अब राख भी जल में मिली;
जो आग इतने
काल से जलती रही
वह सर्वदा को बुझ गयी !

[कवि की अप्रकाशित "सेनानी की अंतिम यात्रा" से]

गांधीजी के राम-राज्य का आदर्श

आचार्य नित्यानन्द सारस्वत

बापू की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनके अनेक कार्य-क्रम थे। अनेक साधें थीं। किन्तु सभी आकांक्षाओं का केन्द्र-बिन्दु केवल एक था। और वह था 'रामराज्य'। उनकी यह मधुरतम कल्पना 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' थी। इसे हम कोरी कल्पना या भाव-विलासिता या उनकी खामखयाली नहीं कह सकते। ऐसा करना अपनी अज्ञानता का परिचय देने के सिवा और कुछ नहीं है। उनकी यह कल्पना परम प्राचीन भारतीय संस्कृति और सर्वोच्च माननीय ज्ञान के आधार पर निर्धारित थी।

निर्विवादरूप से विश्व के प्राचीनतम ज्ञान के आगार ऋग्वेद में रामराज्य की सूक्ष्म कल्पना है, जो कि वैदिककाल में ही पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी। उस समय का राज्यशासन विस्तृत दृष्टिकोणवाले 'सर्वभूतहिते रत' ज्ञानी राजा द्वारा संचालित होता था (ऋग्वेद ५।६६।६।) राजा का तेजस्वी, प्रजापोषक और सत्यव्रती होना, अनिवार्य समझा जाता था। (ऋग्वेद ५।६२।२) राजा की दिनचर्या यम-नियमों से नियमित और उसके कर्मप्रशस्त होते थे। (ऋग्वेद ८।२५।८)। इन्हीं गुणों के आधार पर राजा का निर्वाचनहोता था। वंशपरम्परागत प्रणाली नहीं थी। राज्याभिषेक करते समय जन-प्रतिनिधि यहाँ तक चेतावनी देते थे कि प्रजाहित के प्रतिकूल आचरण करने पर राज्य तेरी देख-रेख में न चल सकेगा। (ऋग्वेद १०।१७३।१)। उसके बाद अभिषिक्त राजा क्षात्रतेज से राष्ट्र की मान-मर्यादा को बढ़ाकर उसे उन्नत करता था (ऋग्वेद ७–३४–११)। इस प्रकार हमारी शासन-तंत्र-संचालन की नीति बहुत पहले निश्चित हो चुकी थीं, किन्तु हम सैंकड़ों वर्षों से पददलित होकर विदेशी-शासन-विधान को ही माप-मानने लगे हैं। बापू ने इसके विरुद्ध ही 'रामराज्य' की आवाज बुलन्द की।

अथर्ववेद में इस शासन प्रणाली का विशद पर्यालोचन है। उस समय भी राजा का निर्वाचन होता था और उसे लोक-हितकारी अनेक उपदेश दिये जाते थे (अथर्व ३।४।१)। शासन तन्त्र को सुदृढ़ करने के लिए लोक-परिषद् की स्थापना हो गई थी, जिससे राज कार्य में परामर्श लिया जाता था। (अथर्व ६।८८।३)। यह परिषद् राष्ट्र के प्रतिनिधियों से बनती थी और परिषद् राजा के नियन्त्रण से बाहर अंतरंग मामले सुलझाती थी (अथर्व ७।१२।१)। लोक-परिषद् की सहायता

के लिये ग्रामों में सभा होती थी, जिसके सदस्य सदा सच बोलते थे और इन सभाओं में राजा अथवा लोकपरिषद् के प्रतिष्ठित अधिकारी जाया करते थे तथा उनका मत लिया करते थे (अथर्व ७।१२।३)। राजा केवल वैधानिक अध्यक्ष रह गया था और लोक-परिषद् के सभासद ही प्रजा से कर वसूल कर राष्ट्र को समृद्धिमय बनाते थे (अथर्व ३।२६।१-२)। सच्ची राष्ट्रीय भावना के अनुसार लोग राष्ट्र को ही सर्वस्व समझकर उसी की उन्नति करते थे (अथर्व १।२६।१)। परिषद् का अध्यक्ष राष्ट्र में वीर्य, बल, तेज, उत्साह, शौर्य, ज्ञान आदि को बढ़ाने में तल्लीन रहता था (अथर्व ३।१६।१-२)। प्रजा के खाद्य और स्वास्थ्य की उन्नति का अत्यन्त सुन्दर प्रबन्ध था (अथर्व १८।४।५३) इस प्रकार उस समय पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना हो गई थी। उसके क्रमिक-विकास का भी अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के १० वें सूक्त में मनोरंजक वर्णन है :—

"जब पहले राजा के अधिकार बहुत अधिक थे, तब सब को चिन्ता हुई कि क्या यही अवस्था सदा रहेगी? इसी चिन्तन के फलस्वरूप प्रजा में क्रान्ति की भावना पैदा हुई, जिससे छोटे-छोटे संगठन बने और उनके नेताओं ने संगठित होकर ग्राम-सभाओं का आयोजन किया। क्रान्ति की भावना प्रबल ही होती गई और उन सभाओं से निर्वाचित व्यक्तियों द्वारा अनेक ग्राम समूहों की समितियाँ बनीं। जब समितियों के संगठित प्रयत्न से परिचालित क्रान्ति का सहन राजा न कर सका तो उसने राज्य संचालन के लिये समितियों को आमंत्रित किया। आमंत्रण के फल-स्वरूप सुसंगठित 'लोक परिषद्' बनी। मन्त्रि-मण्डल के रूप में यह परिषद् आमन्त्रण करने से बनी थी, इसलिये इसका दूसरा नाम 'आमन्त्रण' भी है।" सभा, समिति और परिषद् के विशिष्ट नियम होते थे, उनके अनुसार योग्य व्यक्ति ही उनके सभासद हो सकते थे : ब्रिटिश 'लॉर्ड-सभा' जैसी प्रणाली उस समय कायम न थी।

सृष्टि के आदि से आध्यात्मिक धरातल पर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए इसी ज्ञान को बापू के उर्वर-मस्तिष्क ने चरम रूप से निखरा डाला था। बापू का रामराज्य भारत की इसी प्राचीन संस्कृति और उच्च सभ्यता के आधार पर शासन यन्त्र को परिचालित करना था। आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की अनेक लाभदायक बातों को बापू ने इसीलिए पसन्द नहीं किया कि उनके मूल में जड़वाद का सिद्धान्त है। कला-कौशल और ज्ञान-विज्ञान के उच्च-शिखर पर अवस्थित आज के संसार में सुख और शान्ति के अभाव को वे प्रत्यक्ष देख रहे थे। जनता और शासक-वर्ग में लोभ और प्रतिस्पर्धा का बाहुल्य तथा मानवीय नैतिकता का अभाव उनकी आँखों में खटक रहा था। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही तीसरे की

धूमधाम से तैयारी उनकी दूरदर्शी दृष्टि से छिपी न थी। इनके मूल म वर्तमान संस्कृति और सभ्यता पर निर्भर जड़वाद ही काम कर रहा है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जड़वाद में अव्यभिचरित शान्ति का मिलना असम्भव है। वे सारे संसार की स्थायी शान्ति और पूर्ण सुखानुभूति अध्यात्मवाद में ही देख रहे थे, जिसका आधार भारत की परम प्राचीन संस्कृति और सर्वश्रेष्ठ सभ्यता है।

इसी अध्यात्मवाद के आधार पर बापू के आजीवन प्रयत्नों के सार 'भारत में रामराज्य' की स्थापना से ही बापू की स्वर्गीय आत्मा को अक्षय परम शान्ति मिलेगी। इसीसे हम आकाश में सूर्य और चन्द्र के रहने तक बापू की पुण्य-स्मृति को अमर रख सकगे और सारे विश्व में अलौकिक शान्ति का प्रसार कर सकेंगे।

०

मैं आपलोगों को कुछ जरूरी बातें अच्छी तरह सिखा देना चाहता हूँ। जैसे, गाँव का पानी किस तरह स्वच्छ रक्खा जाय; किस तरह खुद साफ-सुथरा रहा जाय; जिस मिट्टी से हम पैदा हुए हैं, उस मिट्टी का सही-सही इस्तेमाल कैसे किया जाय; हमारे सर पर जो अनंत आसमान फैला हुआ है, उससे जिन्दगी की ताकत किस तरह हासिल की जाय; अपने आस-पास की हवा से प्राण-शक्ति किस तरह ली जाय और किस तरीके से सूरज की धूप का ठीक-ठीक इस्तेमाल किया जाय। हमारा देश कंगाल बन गया है। मैं आपको वह तालीम देने की कोशिश करूँगा, जिससे ऊपर कही हुई इन जुदा-जुदा ताकतों का सही इस्तेमाल करके इस देश को सोने का देश बना सकें।

०

दिमागी काम भी अपना महत्व रखता है और जिन्दगी में उसकी खास जगह है; लेकिन मैं तो जिस्मानी मेहनत की जरूरत पर जोर देता हूँ। मेरा यह दावा है कि उस फर्ज से किसी भी इन्सान को छुटकारा नहीं मिलना चाहिए। इससे इंसान की दिमागी ताकत की तरक्की ही होगी। मैं तो यहाँ तक कहने की हिम्मत करता हूँ कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान के ब्राह्मण दिमागी और जिस्मानी दोनों काम करते थे। वे चाहे न भी करते हों, लेकिन आज तो जिस्मानी काम की जरूरत साबित हो चुकी है।

—मो० क० गांधी

०

महात्मा गांधी का धर्म

श्रीसाधुशरण

संसार जानता है, महात्मा गांधी हिन्दू थे और हिन्दू धर्म को मानते थे; लेकिन उनके विचारों और आचरणों पर दृष्टिपात करने से हमारे सम्मुख एक और ही गुप्त सत्य प्रकट होता है। किसी भी धर्मावलंबी को हम उसके विचारों और आचरणों को देखकर ही उस धर्म का अनुयायी कहते हैं। एक हिन्दू के आचरण और विचार अगर एक मुसलमान या क्रिश्चियन के हैं, तो उसे हम हिन्दू नहीं कह सकते। इसी तरह अगर एक मुसलमान के आचरण और विचार एक हिन्दू या क्रिश्चियन के हैं, तो उसे हम क्रिश्चियन नहीं कह सकते। वह युग चला गया, जब हम जन्म ही से किसी को हिन्दू या मुसलमान या ब्राह्मण या शूद्र कहते थे। अगर इस तर्क को हम मानें, तो महात्मा गांधी के आचरणों और विचारों पर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा गांधी आज के प्रचलित और ख्यात धर्मों में किसी के भी अनुयायी नहीं थे, वरन् वह एसे धर्म को मानते थे, जो पूर्णतः प्रकृत और मानवजाति-मात्र के लिए कल्याण-प्रद था, और जिसका नाम किसी ने सुना नहीं, वरन् अब तक भविष्य के गर्भ में हैं। वह कौन-सा धर्म ह, यहाँ हम उसी की ओर संकेत करना चाहते हैं।

प्रत्येक धर्मावलंबी अपने ही धर्म को श्रेष्ठ और दूसरे के धर्म को भयावह मानता है—अपने धर्म में या अपन धर्म के लिए मर मिटना श्रेष्ठ समझता है; लेकिन दूसरे के धर्म को अच्छा समझना वा दूसरे के धर्म में जाना पसंद नहीं करता। किसी भी सच्चे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई से पूछिए, वह अपने ही धर्म को श्रेष्ठ बतलावेगा, अपने ही धर्म के लिए अपना प्रेम प्रकट करेगा; किसी भी दूसरे धर्म के लिए उसके हृदय में आप वास्तविक प्रेम नहीं पावेंगे। लेकिन महात्मा गांधी की दृष्टि में संसार के सब धर्म समान थे; प्रत्येक धर्म के लिए उनके हृदय में समान आदर और प्रेम था। वह धर्म को केवल धर्म की दृष्टि से और केवल 'धर्म के रूप' में देखते थे। उनकी दृष्टि में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों के विभिन्न नाम केवल मानवजाति की अज्ञानता के कारण थे। वह मानते थे, मनुष्य-मात्र का धर्म एक और केवल एक है, चाहे उसको आप जिस नाम से पुकारिए या जिस रूप में देखिए।

प्रत्येक धर्मावलंबी केवल अपने ही धर्मग्रथों में वर्णित ईश्वर के नाम-रूप का भजन और यजन-पूजन करता है; दूसरे के धर्मग्रन्थों में वर्णित ईश्वर के नाम-रूप को मुख से निकालना भी वह पाप समझता है। एक मुसलमान को आप राम राम जपने को कहिए, शायद वह आपको जीता ही खा जायगा। एक हिन्दू को आप खुदा-खुदा अल्लाह-अल्लाह जपने को कहिए,शायद वह आपका सिर फोड़ डालेगा। इसी तरह किसी क्रिश्चियन को आप 'गौड' छोड़कर राम-राम या अल्लाह-अल्लाह जपते नहीं पावेंगे। लेकिन महात्मा गांधी की दृष्टि में ये सब नाम समान थे। उनके हृदय में इन सब नामों के लिए समान आदर और प्रेम था। वह समझते थे, ईश्वर या खुदा या गौड, राम या रहीम, ये सबनाम एक ही ईश्वर का बोध कराते हैं केवल भाषा-भेद से ये सब एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम हैं उनका विश्वास था, इन विभिन्न नामों में किसी भी नाम का भजन कीजिए, किसी भी रूप का यजन-पूजन कीजिए, वह सब एक-मात्र ईश्वर का ही भजन और यजन,पूजन है।

प्रत्येक धर्मावलंबी केवल अपने ही धर्मग्रन्थों का आदर करता, अपने ही धर्मग्रन्थों पर श्रद्धाभक्ति रखता और अपने ही धर्मग्रन्थों में वर्णित प्रवचनों का पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, पालन और अनुसरण करता है; दूसरे के धर्म-ग्रन्थों के लिये किसीके हृदय में वास्तविक श्रद्धा, भक्ति और प्रेम नहीं पाया जाता—यहाँ तक कि कुछ लोग तो दूसरे के धर्मग्रन्थों की खिल्ली तक उड़ाया करते हैं। किसी भी हिन्दू को आप नित नियम से कुरान-पाठ करते या किसी मुसलमान को गीता या बाइबिल का पाठ करते या किसी ईसाई को गीता या कुरान की पूजा करते नहीं पावेंगे। जिन्हें आप पढ़ते पावेंगे भी, उन्हें भी केवल जिज्ञासा या दोषान्वेषण की दृष्टि से ही, भक्ति की दृष्टि से नहीं। लेकिन महात्मा गांधी की दृष्टि में संसार के सब धर्मों के सभी धर्मग्रन्थ समान थे। उनके हृदय में संसार के सभी धर्मों के सभी धर्मग्रन्थों के लिये समान आदर-प्रेम और श्रद्धा-भक्ति थी। वे संसार के सभी धर्मग्रन्थों को एक समान पूज्य और पवित्र मानते थे और सबका पठन-पाठन और मनन समान श्रद्धा-भक्ति से करते थे। उनका विश्वास था, ये सभी धर्मग्रन्थ एक उसी ईश्वर की स्तुति में लिखे गये हैं और इन सबों के द्वारा समान रूप में ईश्वर को प्राप्त कर सकते या उसे प्रसन्न कर सकते हैं।

प्रत्येक धर्मावलंबी अपने धर्म-मंदिरों में केवल अपने ही धर्मावलंबियों का प्रवेश पसन्द करता है। किसी भी दूसरे धर्म के अनुयायी के अपने मंदिर में प्रवेश कर जाने पर वह अपने मंदिर को अपवित्र समझने लगता और उस प्रवेश करनेवाले की जान तक ले लेने के लिये तैयार हो जाता है। इस संकुचित विचार में हिन्दू तो यहाँ तक बढ़े हुए हैं कि कुछ अपने ही धर्मावलंबियों को अछूत नाम देकर उनका

मंदिर-प्रवेश वर्जित किये हुए हैं। दूसरी ओर प्रत्येक धर्मावलंबी भी किसी दूसरे के धर्म-मन्दिर में जाना पसन्द नहीं करता ; जिस कारण से भी हो, दूसरे के धर्म-मंदिरों में जाने में उसे भय और घृणा होती है। लेकिन महात्मा गांधी की दृष्टि में संसार के सब धर्मों के धर्म-मंदिर समान थे। उनके हृदय में प्रत्येक धर्म के धर्म-मंदिर के लिये समान आदर-प्रेम और श्रद्धा-भक्ति थी। उनकी धारणा थी कि प्रत्येक धर्म का धर्म-मंदिर उस एक ही ईश्वर की स्तुति, भजन और यजन-पूजन का स्थान है, उसको आप मंदिर कहें या मस्जिद या गिरजाघर, और प्रत्येक धर्म के धर्म-मन्दिर में प्रत्येक व्यक्ति को जाकर ईश्वर की स्तुति, भजन और यजन-पूजन करने का अधिकार है, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान या ईसाई, ब्राह्मण हो या शूद्र। उनका विचार था, धर्म के नाते सब धर्मों के अनुयायी परस्पर भाई-भाई हैं, अतः किसी भी धर्म के अनुयायी को किसी दूसरे धर्मावलंबी के मंदिर में जाने में या किसी दूसरे धर्मावलंबी को अपने मंदिर में आने देने में आपत्ति न होनी चाहिए और सब धर्मों के अनुयायियों को धर्म के नाम पर परस्पर का सारा भेद-भाव भूलकर किसी भी मंदिर या किसी भी स्थान में भाई-भाई जैसे परस्पर मिलकर ईश्वर की स्तुति, भजन और यजन, पूजन करना चाहिए। फलतः उनकी प्रार्थना-सभा का जो वास्तव में उनका धर्म-मंदिर था, द्वार प्रत्येक धर्मानुयायी के लिये समान रूप से खुला था और वह सबका स्वागत समान आदर और प्रेम के साथ करते तथा सब के साथ पूर्ण प्रेम-भाव से सम्मिलित होकर ईश्वर की स्तुति, भजन एवं पूजन करते थे।

प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए जी-जान से कोशिश करता है। इसको भी वह अपने धर्म का एक अंग ही मानता है। किसी किसी धर्म के अनुयायियों का तो यहाँ तक विश्वास है कि विधर्मियों को अपने धर्म में लाना एक बहुत बड़ा पुण्य-कार्य और मोक्ष-प्राप्ति का एक बहुत सुलभ साधन है। फलस्वरूप प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए सेवा, प्रेम, छल, कपट, धन, बल और हर तरह के प्रलोभनों से काम लेते हैं। ईसाइयों को देखिए, अपने धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए वे प्रति वर्ष करोड़ों रुपये व्यय करते हैं। हिन्दू-मुसलमानों का धर्म-युद्ध, साम्प्रदायिक दंगे, एक दूसरे की स्त्रियों और बच्चों का अपहरण, चोरी और बलात् धर्म-परिवर्तन तो सारे संसार में कुख्यात हो ही चुके हैं। किसी भी धर्मावलम्बी के हृदय को टटोलिए, उसमें अपने अपने धर्म के प्रचार और प्रसार की प्रकट नहीं तो छिपी हुई भावना अवश्य मिलेगी। लेकिन महात्मा गांधी इस भावना से सर्वथा दूर थे, पूर्णतः परे थे। उनकी दृष्टि से, धर्म के क्षेत्र में प्रत्येक मनुष्य को अपने विश्वास, अनुरूप धर्म को मानने की

पूर्ण स्वतन्त्रता है। वह धर्म के जिस रूप को चाहे, मान सकता है; जिस धर्म में चाहे, रह सकता है; जिस धर्म के पथ पर चाहे, चल सकता है। इसके लिए उस पर कोई बन्धन नहीं होना चाहिए, कोई नियंत्रण नहीं रहना चाहिए, कोई कानून नहीं होना चाहिए, किसी प्रकार की कोई प्रेरणा, प्रलोभन या बलप्रयोग नहीं होना चाहिए। उनका विश्वास था, चाहे कोई किसी भी धर्म में रहे, सब एक उसी ईश्वर की अर्चना करते हैं, एक उसी ईश्वर को प्रसन्न करने के प्रयत्न या प्राप्त करने के लिए तपस्या करते हैं। अतः किसी धर्मावलम्बी को उसके अपने विश्वास के धर्म से विचलित करके किसी दूसरे धर्म में लाने का—प्रकट या अप्रकट, सहृदय या कठोर, सप्रेम या बलात्—प्रयत्न करना मनुष्य का अन्याय है, अत्याचार है अधर्म है, पाप है, धर्म की अज्ञानता का सूचक है। ठीक इसी तरह उनकी दृष्टि में अगर कोई मनुष्य अपने वर्तमान धर्म को स्वेच्छा से छोड़कर किसी दूसरे धर्म में जाना चाहता है, तो उसे रोकन का प्रयत्न करना भी वैसा ही अन्याय है, अत्याचार है, अधर्म है, पाप है, धर्म की अज्ञानता का सूचक है।

हिन्दू कतिपय निर्दोष पशुओं का वलिदान करना अपने धर्म का एक अंग मानते हैं, मुसलमान भी कुर्बानी को अपना धर्म-कार्य मानते हैं, क्रिश्चियन भी हिंसा और अहिंसा का अपने धर्म से कोई संबंध नहीं समझते। इसी तरह कोई भी धर्मावलम्बी, कहने के लिए मुँह से चाहे भले ही कहे किन्तु व्यावहारिक रूप में सत्य और प्रेम को अपने धर्म का अंग नहीं मानता। लेकिन महात्मा गांधी का ऐसा विचार था कि सत्य, अहिंसा और प्रेम तीनों धर्म के मूल-सिद्धान्त हैं। जो धर्मावलम्बी इन तीनों का समुचित पालन करता है, वही अपने धर्म को समझता और उसका उचित पालन करता है। जो धर्मावलम्बी उन तीनों का समुचित पालन नहीं करता, वह धर्म के तथ्य को बिलकुल समझता ही नहीं, धर्म-पालन के नाम पर अपने धर्म पर कलंक की कालिख पोतता है। उनकी दृष्टि में हिंसा, चाहे बलिदान के रूप में हो या और किसी रूप में, घोर पाप है, महान अधर्म है।

प्रत्येक धर्म अपने पर आघात करनेवाले से धर्मयुद्ध करने की राय देता है, प्रत्येक धर्मावलंबी अपने अपकार करनेवाले से बदला लेने की भावना अपने मन में पोषण करता है। लेकिन महात्मा गांधी की दृष्टि में अपकार का बदला उपकार और आघात का बदला क्षमा था। उनका कहना था, जो तुम्हारे एक गाल में थप्पड़ लगावे, उसके सम्मुख अपना दूसरा गाल भी कर दो, अपने कर्तव्यपथ में आरूढ़ रहते हुए अगर कोई तुम्हें मारने के लिये शस्त्र उठावे तो तुरत उसके सम्मुख अपना सिर झुका दो, तुम स्वयं बलिदान हो जाओ लेकिन किसी दूसरे पर प्रहार करने

के लिये हाथ न उठाएंगे। वह शान्ति और क्षमा को धर्म का प्रमुख अंग मानते थे और स्वयं शान्ति और क्षमा के अवतार थे।

प्रत्येक धर्मावलंबी अपने धर्मानुयायियों की एक जाति मानता है। मुस्लिम-धर्मानुयायियों ने अपने को हिन्दुओं और क्रिश्चियनों से पृथक् मुसलमान-जाति के, क्रिश्चियन-धर्मानुयायी अपने को हिन्दुओं और मुसलमानों से पृथक् क्रिश्चियन-जाति के और हिन्द-धर्मानुयायी अपने को मुसलमानों और क्रिश्चियनों से पृथक् हिन्दु-जाति को मानते हैं। हिन्दुओं में तो यह जाति-भेद यहाँ तक बढ़ा है कि इस हिन्दू-जातियों के अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इन जातियों के अंतर्गत भी असंख्य जातियाँ हो गई हैं। लेकिन महात्मा गांधी की दृष्टि में मनुष्य-मात्र की केवल एक जाति है। सभी मनुष्य हैं, सभी उस एक ही ईश्वर की संतान हैं, फिर यह जाति-विभेद कैसा और क्यों? उनकी दृष्टि में सभी एक हैं, सभी-भाई-भाई हैं, किसी में भी कोई भेद नहीं।

महात्मा गांधी के उपर्युक्त विचारों को ध्यान में लाकर अब आप बतलाइए कि महात्मा गांधी किस धर्म के अनुयाया थे या किस धर्म के अनुयायी कहे जा सकते हैं। आप कहेंगे, हिन्दू-धर्म ऐसा उदार धर्म है, जिसमें महात्मा गांधी के ये कुल विचार निहित मिलते हैं। इसी में ईश्वर के जिस नाम को चाहिये उसका भजन करने की और जिस रूप को चाहिए उसका अर्चन-पूजन करने की स्वतंत्रता है। ईश्वर को आप अल्लाह कहिए या गौड या किसी दूसरे देवी-देवता के नाम से पुकारिए, इस धर्म के लिये सब मान्य है। इसमें कोई जरुरी नहीं कि आप मंदिर में ही जाकर ईश्वर की स्तुति कीजिए। मन्दिर में, मस्जिद में, घर में, मनमें, मैदान मे, नदी-तट पर या जहाँ भी चाहिए, वहीं बैठकर आप ईश्वर का भजन-पूजन कर सकते हैं। इसी धर्म में अपने प्रचार और प्रसार के लिए, अनुचित या उचित, उद्योगकरने का विधान नहीं, बल्कि यह धर्म दूसरे धर्मावलंबियों से अपने को विलग रखने में ही अपनी पवित्रता मानता है। सत्य, अहिंसा, प्रेम और क्षमा इसी के मूल-सिद्धान्त हैं। अतः महात्मा गांधी को हम हिन्दू-धर्म के ही अनुयायी मानेंगे। ठीक है, लेकिन तब इसमें 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मोभयावहः' क्यों कहा गया है? दूसरे धर्मों से हम घबराते क्यों हैं? महात्मा गांधी को तो सब धर्मों से समान प्रेम था। यह वर्ण-भेद और छूत-अछूत का विचार क्यों है? महात्मा गांधी तो मनुष्य-मात्र की एक जाति और सबको एक सा पवित्र मानते थे। बलिदान के रूप में यह हिंसा का विधान क्यों है? महात्मा गांधी तो अहिंसा के एक ही पुजारी थे। इन सब बातों पर विचार करने और महात्मा गांधी के आचरणों और विचारों का सूक्ष्म निरीक्षण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महात्मा गांधी यद्यपि

हिन्दू थे, वह आज के प्रचलित और प्रख्यात धर्मों में किसी के भी मात्र-अनुयायी नहीं थे, वरन वह एक ऐसे धर्म के अनुयायी थें, जो केवल 'धर्म' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। उनकी इच्छा थी, सब धर्मों की बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को ग्रहण करना—सब धर्मों के शुभ्र और हितकर मूल-तत्वों को ग्रहण करके उनके मेल से एक ऐसे धर्म की स्थापना करना, जो सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया और क्षमा के आधार पर अवस्थित हो और जो मनुष्य-जाति मात्र में एक और विश्वबंधुत्व स्थापित कर सके। वह संसार के सब धर्मों को मिलाकर एक कर देना चाहते थे। लेकिन वह मनीषी थे, महात्मा थे, बहुत बड़े दूरदर्शी थे और जनता की नाड़ी को खूब अच्छी तरह पहचानते थे। आज के मनुष्य की धर्मान्धता और विषम सांप्रदायिकता को देखते हुए वह खूब अच्छी तरह समझते थे कि अगर आज वह अपने इन विचारों को जनता के सम्मुख प्रकट करेंगे, तो प्रत्येक धर्म के अनुयायी बौखला उठेंगे और उन्हें अपने कार्य में असफल हो जाना पड़ेगा। अतः आगे चलकर अपने विचारों को जनता के हृदय में बोने और संसार के सम्मुख प्रकट करने के लिए अभी वह केवल क्षेत्र तैयार करने में लगे थे। अपनी प्रार्थना सभा में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, नानकपंथी, कबीरपंथी आदि सब संप्रदाय के लोगों को सम्मिलित करने, सबके साथ प्रेमपूर्वक हिलमिलकर भगवान की प्रार्थना करने और अपनी प्रार्थना में सबके धर्मग्रंथों को उचित आदर और स्थान देनेका उनका उद्देश्य यही क्षेत्र तैयार करना था। यही नहीं, प्रतिदिन के उनके लेखों और व्याख्यानों का अगर आप सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करेंगे, तो उनमें जगह-जगह आपको उनके इस आंतरिक विचार की छाया मिलेगी। यह निश्चित था, भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उनका अगला पग इसी क्षेत्र में बढ़ता। लेकिन अफसोस! जिस बात की उनको आशंका थी, वह होकर ही रही। अभी क्षेत्र तैयार भी नहीं होने पाया था, अपने उन विचारों को जनता के सम्मुख रखने का अभी उन्होंने नाम भी नहीं लिया था, तभी मुसलमानों में कतिपय यह समझने लगे थे कि यह तो मुसलमानों को अपने में मिला कर छिपे-छिपे मुस्लिमधर्म का ही नाश कर देना चाहता है और हिन्दुओं में कुछ लोग यह समझने लगे थे कि यह तो हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य स्थापित करके हिन्दू-धर्म को ही मिटा डालना चाहता है; फलस्वरूप एक अज्ञानी की अज्ञानता ने पूज्य बापू को हमसे छीन लिया और उनके हृदय का यह विचार उनके हृदय में ही रह गया, उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण कार्य पूरा न हो सका।

अब आप एक बार महात्मा गांधी के उपर्युक्त विचारों की आलोचना कीजिए—किसी धर्म विशेष के प्रेम में आत्मा और मन पर पड़े उसके संस्कारों से

प्रभावित होकर नहीं, बरन ऐसी आलोचना जो संसार के सब धर्मों से बिलकुल परे और मनुष्य-मात्र के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर बिलकुल निष्पक्ष रूप से की गई हो। अगर आप हिन्दू हैं और मन पर पड़े हिन्दू-धर्म के संस्कारों को किये हुए आलोचना करने बैठेंगे, तो ज्योंही आप सुनेंगे कि महात्मा गांधी हमें छूआ-छूत का भेद मिटाकर हरिजन, ईसाई, मुसलमान सबका छूआ और सबके साथ बठकर खाने को कहते थे, भगवान् की प्रार्थना में कुरान और बाइबिल पढ़ने की राय देते थे, त्योंही आप आग-बबूला हो उठेंगे। अगर आप मुसलमान हैं, तो ज्योंही आप सुनेंगे कि महात्मा गांधी मुसलमानों को हिन्दुओं में बिलकुल घुल-मिल जाने को कहते थे, उनके मंदिरों और धर्मग्रन्थों का आदर करने की राय देते थे, त्योंही आप क्रोध से उबल पड़ेंगे। निष्पक्ष आलोचना आपके द्वारा तभी हो सकेगी, जब आप अपने हृदय को उस पर पड़े अपने धर्म के संस्कारों से बिलकुल मुक्त कर डालेंगे। अपने हृदय को सर्वथा संस्कार मुक्त बनाकर जब आप महात्मा गांधी के इन विचारों पर विचार करेंगे, तो आपको स्पष्ट पता लग जायगा, कि पृथ्वी पर फैले हुए सांप्रदायिक वैमनस्यों के भयंकर विष का नाश करके संसार में शान्ति और सुव्यवस्था तथा मनुष्य-मात्र में एकता एवं विश्वबंधुत्व स्थापित करने के लिए इससे भिन्न और कोई मार्ग हो ही नहीं सकता।

महात्मा गांधी अब इस संसार में नहीं रहे। हम उनका स्मारक बनवाने के लिये जगह-जगह योजनाएँ बना रहे हैं, अधिक से अधिक धन इकट्ठा करने में लगे हैं। क्या अच्छा हो, अगर हम उनकी स्मृति में कोई ऐसा काम कर डालें, जो उनके इन विचारों को कार्यान्वित करने में समर्थ हो सके। संसार को—केवल भारत को नहीं, संसार को—चाहिए कि उनकी स्मृति में एक ऐसा 'विश्व-धर्म-संघ' स्थापित करे, जिसमें अपने-अपने हृदय का सांप्रदायिक वैमनस्य मिटाकर सब धर्मों के अनुयायी सम्मिलित हो सकें और सत्य, अहिंसा, प्रेम, शान्ति एवं सुव्यवस्था का प्रचार तथा मनुष्य-मात्र में बंधुत्व का स्थापन करते हुए एक विश्व मानव धर्म की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हों।

०

भगवान गाँधी

श्रीकिशोर

तुमरहे, मृतक मानवता का बनजीवन !
तुम गये, काल की आँखों का पानीवन !
बापू, तुम आये जग को स्वर्ग बनाने,
या दानवता पर स्वयं भेंट चढ़ जाने ?

हे अन्धे युग के मलिन मर्म के दीपक,
हे ममता के श्रृंगार सत्य के रूपक,
तुम नीलकंठ पी घृणा-द्वेष-हालाहल
तुम दलित जनों की कठिन मुक्ति के सम्बल !

हे मानवता के तुंग शिखर शुचि सुन्दर
निकले तुमसे शत-शत करुणा के निर्झर
फोड़ते युगों के जड़ प्रस्तर अति दृढ़तर
बह रहे बनाते कोटि अन्ध उर उर्वर

तुम प्रकट हुए आर्त्तों की मृदुवाणी से !
तुम बने आह-दुख की माटी-पानी से !
तुम कलाकार,तुम नवयुग के निर्माता !
हो गया धन्य तुमको रच स्वयं विधाता

मोहन, वियोग में लुटी शान्ति की राधा !
तुम राम-राज्य के सपनों की मर्य्यादा !
तुम भव-सागर का कठिन सबल थे तिनका !
तुम हाड़-मांस में ईश्वर थे कलियुग का !

०

विश्ववरेण्य बापू

महात्मा गांधी की पुण्यस्मृति में संसार के कोने-कोने से उन के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी है। भारतवर्ष की तो बात ही नहीं, संसार का कोई भी ऐसा देश नहीं जहाँ के राष्ट्रपति, राष्ट्रनेता, मनीषी विद्वान एवं विशिष्ट राजपुरुषों ने इस महामानव के प्रति अपनी आन्तरिक निष्ठा न प्रकट की हो। विभिन्न देशों की विभिन्न वाणियों में उनके प्रति जो शोकोच्छ्वास व्यक्त किये गये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि समग्र विश्व ने इस बात को सचाई के साथ महसूस किया है कि मानवजाति ने एक बहुत बड़े मानवहितैषी और बन्धु को खो दिया। महात्माजी राष्ट्रपति नहीं थे। किसी राष्ट्र के अधिनायक के हाथों में जो क्षमता एवं शक्ति होती है वह भी उनमें नही थी। राजशक्ति के जितने साधन होते हैं उन सारे साधनो में से एक का भी कभी उन्होने आश्रय ग्रहण नहीं किया। फिर भी संपूर्ण विश्व की श्रद्धाञ्जलि उनके प्रति निवेदित हुई। क्यों? क्या केवल इसलिये कि वह भारतीय राष्ट्र की जनक थे और उन्हीं के नेतृत्व में राष्ट्र ने स्वाधीनतालाभ किया है? नहीं, केवल इस कारण से ही गांधीजी विश्ववरेण्य नहीं बने हैं। संसार के और देशों के राष्ट्रनायकों ने भी अपने-अपने राष्ट्र का सफल रुप में परिचालन किया है, देशवासियों को स्वातन्त्र्य-संग्राम में साफल्यमण्डित किया है, किन्तु फिर भी वे उस रुप में विश्ववासियों की आन्तरिक श्रद्धा के पात्र नहीं बन सके जिस रूप में गांधीजी बने थे। गांधीजी की सबसे बड़ी विशेषता थी उनका मानवतावाद (humanism). उन्होने राजनीति को मानवता से विच्छिन्न करके कभी नहीं देखा। राजनीति उनके लिये उसी प्रकार जीवन का एक अंग बन गयी थी जिस प्रकार धर्म और सदाचार। यही कारण है कि उनकी राजनीति प्रचलित अर्थ में जिस राजनीति को हम लेते हैं उससे बहुत उर्ध्व उठ गयी थी और वह उनके नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के साथ संश्लिष्ट हो गयी थी। धर्मनीति और अध्यात्म के साथ राजनीति एवं लोकव्यवहार का ऐसा सफल संमिश्रण इससे पहले संसार के और किसी भी देश के जननायक या महापुरुष के जीवन में नहीं देखा गया था। अपने व्यक्तिगत जीवन में इसकी साधना करके उन्होंने जो शक्ति प्राप्त की थी उस शक्ति का ही प्रयोग उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में किया और उनकी साधना अनेकांश में सिद्ध हुई। राजनीति के क्षेत्र में इस अभिनव शक्ति का प्रयोग अवश्य ही संसार के लिये एक चमत्कार था जिससे विश्ववासियों का कौतूहल उद्दीप्त हुए विना नहीं रहा।

समाज एवं राष्ट्र को वह जिस रूप में देखना चाहते थे और जिसके लिये उन्होंने जीवन पर्यन्त एकनिष्ठ भाव से कार्य्य किया उस कार्य को ही संपन्न करने में प्रत्येक व्यक्ति को अपना उत्तरदायित्व ग्रहण करना होगा। इसी रूप में हम गांधीजी की स्मृति रक्षा कर सकते हैं और हमारा यह कार्य्य उनकी दिवंगत आत्मा के लिये अवश्य शान्तिप्रद होगा। किन्तु यह कार्य्य पूर्ण तभी हो सकता है जब कि इसका रूप देशव्यापी हो और सारे देश की कर्मप्रचेष्टायें इस ओर केन्द्रित हों। इसी उद्देश्य से राष्ट्र के नेताओं ने एक गांधी–स्मारकनिधि की स्थापना की है और देशवासियों से अपील की है कि वे मुक्तहस्त होकर इस निधि में दान दें। वर्त्तमान युग में साधन के रूप में पैसे का जो महत्व है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी भी श्रेष्ठ या महत कार्य्य के संपादन के लिये धन की आवश्यकता अनिवार्य्य रूप में होती है। गांधीजी के कार्य्यक्रम को भी देशव्यापी रूप देने के लिये धन की आवश्यकता है। हमें आशा है, जो लोग गांधीजी के आदर्शों एवं सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं और उन सिद्धान्तों के कार्य्यान्वित होने में देश का कल्याण समझते हैं वे अवश्य ही बिना किसी द्विधा के इस निधि में दान देकर पुण्य के भागी बनेंगे।

●

अपनी बात

'हिमालय' का यह विशेषाङ्क 'गांधी-अंक' के रूप में हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित है। हम इस अंक को जिस रूप में निकालना चाहते थे उस रूप में हम इसे निकाल नहीं सके इसका हमें खेद है। हमारा विचार था कि हम इसे और भी उत्तमोत्तम उपयोगी सामग्रियों से सुसज्जित करके पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सकें। किन्तु समय पर सामग्री उपलब्ध न होने के कारण हमारी वह अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। इस विशेषाङ्क के सम्पादन में हमें जिन कृपालु लेखकों एवं कवियों ने अपनी रचनायें भेजकर उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है उनके हम हृदय से आभारी हैं। उनका यह सहृदयतापूर्ण सहयोग यदि हमें प्राप्त नहीं होता तो हम अपने इस प्रयत्न में कदापि सफल नहीं होते। गांधीजी आज हमारे बीच नहीं रहे। किन्तु उनकी पुण्य-स्मृतियाँ ही आज राष्ट्र के लिए सबसे बड़ी निधि हैं। और उनकी उन स्मृतियों के प्रति ही हमारी यह श्रद्धाञ्जलि विशेषाङ्क के रूप में निवेदित है। हमें आशा है कि पुण्यश्लोक गांधीजी की इस पुण्यचर्चा से हमारे पाठकों का अवश्य ही सात्विक मनोविनोदन एवं उनकी आत्मा का उन्नयन होगा।

●